

दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष १०

अप्रैल १९६४

अंक २

सम्पादक:

यशदेव शल्य

सम्पादक मंडल:

न. कि. देवराज

अ. ग. जावडेकर

राजेन्द्र प्रसाद

विषय सूची

लेख	लेखक	पृ. सं.
१. दर्शन शास्त्र में मूल्योन्मुखता की आवश्यकता	अ. ग. जावडेकर	७७
२. काश्मीर-शैव दर्शन में पदार्थ का स्वरूप	— नवजीवन रस्तोगी	८१
३. भ्रम और मतिभ्रम	— एल. पी. एन. सिन्हा	८८
४. कुरान में मायावाद	— डा० इशरत हुसैन अनवर	१०२
५. आत्मतत्त्वविवेक का बाह्यार्थ भगवान्द प्रकरण	— नारायण शास्त्री द्राविड	१०६
वादविवाद		
६. ज्ञान की सीमाएँ	— यशदेव शल्य	१११
७. 'ज्ञान की सीमाएँ' नामक लेख की आलोचनाओं का उत्तर	— रामाकान्त त्रिपाठी	११८
८. प्रत्युत्तर	— यशदेव शल्य	११९
९. प्रत्यक्ष की वेदान्तीय परिभाषा	— यशदेव शल्य	१२१
१०. उत्तर	— नारायण शास्त्री द्राविड	१२६
११. प्रत्युत्तर	— यशदेव शल्य	१२९
१२. पुस्तक समीक्षा	—	१३०

अखिल भारतीय दर्शन परिषद्

वार्षिक शुल्क १०००

एक अंक का मूल्य १०५५

दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष १०

अप्रैल १९६४

अंक २

दर्शन शास्त्र में मूल्यों-मुखता की आवश्यकता

अ. ग. जावडेकर

दर्शन शास्त्र की वर्तमान अस्तव्यस्त अवस्था के समय इस क्षेत्र के चिंतन के पुनरनुस्थापन के उद्देश्य से मैं अपने विचार यहां प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

अर्वाचीन दार्शनिक प्रवृत्तियों में हम पाते हैं कि ज्ञान की प्रगति प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण से प्रभावित है। धर्म, दर्शन तथा विज्ञान ही ज्ञान के विकास के स्तर (अवस्थाएँ) समझे जाते हैं; सोचने की धार्मिक पद्धति का ही केवल अंत नहीं किया गया है बल्कि सोचने की तत्वमीमांसा की पद्धति भी संदेहपूर्ण दृष्टि से देखी जाती है तथा निरर्थक कहकर उसकी निंदा की जाती है। इस दिशा में पहला कदम था तत्वमीमांसा से सत्तामीमांसा के निष्कासन का तथा दूसरा कदम था दर्शन-शास्त्र से तत्वमीमांसा के निष्कासन का। ज्ञान अर्थपूर्ण होना चाहिये तथा अर्थपूर्णता सत्यापनीयता से जुड़ी हुई है। सत्यापनीयता तथ्यों के ऐन्द्रिय अनुभवों तक दृढ़तापूर्वक सीमित है। केवल सत्ता का कोई अर्थ नहीं। अतः सत्तामीमांसा, जो सत्ता का वर्णन करती है, विचार के परे है। व्यवहार जगत् से परे सत्य का वर्णन करने वाली मानी जाने वाली तत्वमीमांसा का लौकिक सत्त्यों के अर्थपूर्ण संसार में कोई सम्मानपूर्ण स्थान नहीं है। इस मत के अनुसार, दर्शन का उचित कार्य है अनुभवाश्रित ज्ञान के क्षेत्र की वास्तविक घटनाओं का वर्णन करने वाले तर्क वाक्यों का भाषिक विश्लेषण। ऐसा ज्ञान अधिकांशतः विज्ञानों में प्राप्त होता है। किन्तु गवेषणा क्षेत्र का वैज्ञानिक स्वरूप सत्यापनीयता के सिद्धान्त से सीमित हो जाता है। ज्ञान के विषय बनने की क्षमता रखने वाले तथ्यों के हेतु वर्णनीयता अनिवार्य है। इस कारण विज्ञान में भौतिकतावाद प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। वर्णनात्मक तथा मूल्यात्मक विज्ञानों के समस्त भेद समाप्त कर दिये गये हैं। वैज्ञानिक ज्ञान के एकीकरण के आमूल प्रयत्नों में सामाजिक विज्ञान भी भौतिक दृष्टिकोण से देखे जाते हैं। यह समसामयिक विज्ञान के दर्शन का प्रभाव है।

मानव ज्ञान के क्षेत्र में यह कोई संतोषप्रद बात नहीं है। प्रत्येक विचारधारा मानव जीवन को प्रभावित करती है—चाहे उन प्रभावों में हमारी रुचि हो या न हो। आज दर्शन-शास्त्र अपनी व्यापकता खो बैठा है। इस प्रणाली में मानव जीवन तथा अस्तित्व के मूल्यों को “संवेगात्मक प्रकटीकरण” ऐसी संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार मूल्य ज्ञानस्थिति में अप्रासंगिक बना दिये गये हैं तथा इन्हें मानव जीवन में विशेष महत्व से रहित कर दिया गया है। वर्तमान दर्शन की संकुचितता तथा छिछलेपन ने मानव जीवन को अत्यन्त संकुचित तथा छिछला बना दिया है। समस्त गंभीर्य नष्ट हो गया है। प्रत्येक बात बहुत हल्केपन से ली जाती है तथा उच्चतर प्रकार के जीवन के कथन का उपहास किया जाता है। वृत्ति के इस हल्केपन ने मानव जीवन के समस्त क्षेत्रों में प्रवेश कर लिया है। धर्म तथा नीति मनुष्य को मर्यादा में रखते थे, किन्तु ये अब कोई आधार प्रस्तुत नहीं कर पाते हैं। मानव जीवन तथा उसके मूल्य निराधार छोड़ दिये गये हैं।

इस परिस्थिति से बचने का मार्ग क्या है? दर्शन स्वयं का संरक्षण कैसे कर सकता है? सर्वविशानों के सम्राट् का पूर्व पद वह पुनः कैसे प्राप्त कर सकता है? दर्शन के क्षेत्र में प्रत्यावर्तन नहीं होता; हमेशा उच्चतर भूमि पर ही आवर्तनात्मक गमन होता है। क्वचित ही कोई ऐसी चिन्तन की गंभीर शाखा होती है जिसमें सत्य का अलपांश भी न हो। इनमें स्थित मूल्यों को व्यवस्थित रूप देने पर हम अभी भी एक व्यापक दार्शनिक दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सकते हैं।

इस प्रकार विभिन्न दार्शनिक प्रयत्नों का सिंहावलोकन करने पर हम पाते हैं कि उनका वर्गीकरण तीन वर्गों में किया जा सकता है। एक है सत्तामीमांसात्मक या तत्त्वमीमांसात्मक, द्वितीय है ज्ञानात्मक या अनुभवात्मक, तथा तृतीय है मूल्यात्मक। प्रथम सत् या सत्य के प्रत्यय को महत्व देता है। द्वितीय की परिसमाप्ति चैतन्य के प्रत्यय में हो जाती है, तथा तृतीय की मूल्य के प्रत्यय में। दार्शनिकों के व्यक्तित्व के स्वभाव भेद के कारण वे किसी विशेष पद्धति में रुचि रखते हैं। किन्तु व्यापक दृष्टिकोण से देखने पर अवगत होता है कि जिसको एक सत् कहता है उसको दूसरा चित् कहता है तथा तीसरा उसको आनन्द कहता है। ये पद्धतियाँ न्यायसंगत हैं किन्तु एक दूसरे की अवच्छेदक नहीं। अतः यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि वेदान्तवादी क्यों अपने अंतिम तत्त्व को एक साथ सत्-चित्-आनन्द कहता है। किन्तु यह प्रतीत होता है कि इन तीनों में से मूल्य का सिद्धान्त अन्य दो सिद्धान्तों से अधिक व्यापक है। चित् तथा आनन्द के बिना सत् का विचार किया जा सकता है। पुनः चित् का विचार यदि सत् के बिना नहीं तो आनन्द के बिना तो किया जा ही सकता है। किन्तु सत् तथा चित् के बिना मूल्य या आनन्द का विचार करना असंभव है।

इस प्रकार ये तीनों पद्धतियाँ अपने आप मूल्यांकन की क्रमिक श्रेणी में स्थित हैं: ज्ञानात्मक पद्धति में तत्त्वमीमांसात्मक का समावेश है तथा मूल्यात्मक में दोनों का समावेश है। अतः दर्शन शास्त्र की भावी प्रगति मूल्यात्मकता की दिशा में होनी चाहिये। तत्त्व-शास्त्र तथा ज्ञानशास्त्र दोनों का मूल्यात्मक अध्ययन करना आवश्यक है। दर्शन शास्त्र के मूल्यात्मक पुनरनुस्थापन से मेरा यही अभिप्राय है।

तथ्य तथा मूल्य से सम्बन्धित एक प्रश्न है जिस पर गंभीर विचार करना आवश्यक है। क्या विश्व तथ्य तथा मूल्य दोनों से निर्मित है या वह केवल तथ्य निर्मित है? क्या तथ्य तथा मूल्य दोनों ज्ञान के न्यायसंगत विषय हैं या तथ्य ही केवल ज्ञान के न्याय संगत विषय हैं?

विज्ञान में तथ्य को इतना ऊँचा पद प्रदान किया गया है कि उसी को ज्ञान का न्यायसंगत विषय माना गया है। विज्ञान की मूल्यों में कोई रुचि नहीं है; प्रामाणिक ज्ञान की दृष्टि से वे विचारणीय हैं। मूल्य अनुभावात्मक अनुभव है तथा इसी कारण विषयीगत या आत्म-प्रधान हैं; ज्ञान को वस्तुगत होना चाहिये अतः स्वभवतः तथ्योन्मुख होना चाहिये। यदि दोनों शास्त्र सत्य को, जैसा है वैसा ही, जानने के लिये अग्रसर होते हैं तो विज्ञान के क्षेत्र तथा दर्शन के क्षेत्र में भेद करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। यह तभी संभव है जब हम तथ्यों और मूल्यों में भेद करें। विज्ञान एक प्रकार के तथ्यों से संबंधित है तो दर्शन दूसरे प्रकार के।

विज्ञान का यह दावा है कि केवल वही प्रामाणिक ज्ञान का प्रकार है, तथा जिस प्रकार के तथ्यों का वह वर्णन करता है वही केवल सही तथ्य हैं। इस विचारधारा के अनुसार तथ्य वही है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, वास्तव में या सिद्धान्त रूप में, इन्द्रियानुभव गम्य है।

इस मत के विपरीत यह माना जाना चाहिये कि तथ्य इतने ही विभिन्न हैं जितने कि प्रकार के अनुभव होते हैं। केवल ऐन्द्रिय तथा संज्ञानात्मक प्रकार के अनुभव को ही अतिरिक्त महत्व क्यों दिया जाता है, यह समझ में नहीं आया। संज्ञानात्मक, अनुभावात्मक, संकल्पात्मक ये सब हमारे अनुभव के पहलू हैं। ऐन्द्रिय तथा सहज ज्ञान (इंस्टिक्टिव) के समान ही बौद्धिक तथा अतःप्रज्ञात्मक ज्ञान हमें प्राप्त है। जाग्रतावस्था ही चैतन्य का एकमात्र प्रकार नहीं है। स्वप्न तथा प्रगाढ़ निद्रा, तथा इसी प्रकार योगिक ध्यान की अवस्था के चैतन्य को भी स्वीकार करना चाहिये। हममें से कुछ लोगों की आंतरिक इन्द्रिय विकसित होती है। असाधारण मनोवैज्ञानिक घटनाएं भी विचारणीय हैं। वे सब एक ही श्रेणी के प्रतिभाशाली होते हैं जो वैज्ञानिक, दार्शनिक, कवि, कलाकार, योगी या संत बन जाते हैं। यह उतना ही तथ्य है जितना अन्य कोई तथ्य हो सकता है। उनके प्रामाणिक कथन का हमें समान रूप से सम्मान करना चाहिये तथा एक व्यापक चित्र का निर्माण करना चाहिये। वैज्ञानिक वृत्ति की यह मांग है कि समस्त अनुभवों का निष्पक्ष रूप से विचार किया जाना चाहिये। ऐन्द्रिय अनुभव का पक्ष लेना तथा अन्य प्रकार के अनुभवों की अवहेलना करना यह निकृष्टतम प्रकार का अंध-विश्वास है।

यही विचारधारा मानव अनुभव में मूल्यों को स्थान देने के, यदि अधिक नहीं तो समान महत्व के प्रति, सजग करती है। एक अर्थ में मूल्य अनुभव के तथ्य हैं। इसलिये यदि मूल्य तथा तथ्य के एक प्रकार के द्वैत को स्वीकार कर लें तो भी कट्टर तथ्यवादी को भी मूल्यों का सम्मान करना चाहिये।

किन्तु उसमें अनिवार्य रूप से द्वैत नहीं है। ऐसा कोई तथ्य का अनुभव नहीं है जो मूल्य के परिमाण से विहीन हो। समस्त संज्ञानात्मक अनुभवों के अनुभावात्मक अंश से यह

जात प्रकट होती है। यदि तथ्यों तथा मूल्यों में कोई भेद करना ही हो तो वह यह है: जहां संज्ञानात्मक तत्व का प्राधान्य हो उसे हम मूल्य न कहते हुए तथ्य कहते हैं। जब अनुभावात्मक तत्व का प्राधान्य हो तब हम तथ्य न कहते हुए मूल्य कहते हैं। अतः उन दोनों के सामरस्य को परस्पर अवच्छेदक कहना भ्रमपूर्ण है।

विज्ञान एक प्रकार के तथ्यों की तुलना में दूसरे प्रकार के तथ्यों में अधिक रुचि रख सकता है। वह मूल्यों की तुलना में तथ्यों में अधिक रुचि रख सकता है। किन्तु ज्ञान के स्वरूप का ऐकांतिक दावा करने की अनुमति नहीं दी जा सकती है। विज्ञान के अतिरिक्त दूसरे क्षेत्र, जैसे कि दर्शन, साहित्य, इतिहास, नीतिशास्त्र, धर्म तथा कला भी, ज्ञान के विभिन्न स्वरूप हैं। वैज्ञानिक ज्ञान जिसका उद्घाटन नहीं करता उसका उद्घाटन इन विभिन्न रूपों द्वारा किया जाना संभव है। जहां विज्ञान असफल रहता है वहां कला तथा धर्म का सफल होना संभव है। हृदय मस्तिष्क की सीमाओं से परे जा सकता है। गवेषणा का प्रत्येक क्षेत्र अपना विशेष मूल्य रखता है। इन सबका उद्भव मानव अनुभव के एकात्मक आधार से होता है। मानव ज्ञान के इन प्रामाणिक क्षेत्रों की अवहेलना करना स्वयं को अपनी उच्च सुप्त शक्तियों से वंचित करना है। अतः यदि मूल्य हमारे ज्ञान का वैसा ही अंग हैं जैसा कि तथ्य हैं तो हमारे ज्ञान को तथ्यों की ओर उन्मुख करने के आग्रह की क्या आवश्यकता है? हम उसे उतने ही न्यायसंगत रूप से मूल्यों की ओर उन्मुख कर सकते हैं। संभवतः तथ्योन्मुख ज्ञान की प्रचलित पद्धति के दोष तथा सीमाओं को हम मूल्योन्मुख ज्ञान के द्वारा समाप्त करने में समर्थ हो सकें।

इस संबन्ध में यह भी दर्शनीय है कि तथाकथित तथ्योन्मुख ज्ञान में मूल्योन्मुख ज्ञान के तत्व रहते हैं, यद्यपि इतने प्राधान्य में नहीं। वास्तविक मानव ज्ञान में पूर्ण तथ्योन्मुखता असंभव है, क्योंकि तथ्य स्वयं में तथा स्वयं के द्वारा ज्ञात नहीं होते। समस्त आत्मगत या विषयगत तत्वों से विरहित, पूर्ण वस्तुगत या विषयगत दृष्टिकोण एक आदर्श है जिसको प्राप्त नहीं किया जा सकता। समस्त ज्ञानस्थितियों में विषयी, ज्ञाता अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य संपादन करता है। इस प्रकार तथ्य केवल तथ्य नहीं रहते किन्तु ज्ञात तथ्य रहते हैं तथा ज्ञात तथ्य ज्ञाता के ज्ञान के विषय होते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ज्ञानस्थिति में ज्ञाता का व्यक्तित्व प्रवेश करता है। यह मूल्यों के विचार को भिन्न संबंधों में तथा भिन्न स्तरों पर अपरिहार्य कर देता है।

भौतिक, जैविक, मानसिक, बौद्धिक, अन्तर्प्राज्ञिक तथा नैतिक क्षमता के अनुसार ज्ञाता के व्यक्तित्व का मूल्य घटता या बढ़ता है। व्यवहृत पद्धति तथा साधनों की उपयुक्तता के विचार से भी ज्ञान का मूल्य प्रभावित होता है। ज्ञान का विषय भी विभिन्न प्रकार के मूल्यों से अनिवार्यतः सम्बन्धित है। ज्ञान का सम्पूर्ण मूल्य केवल उसके तथ्यतः सत्य होने में ही नहीं है किन्तु उसकी इष्टता में भी है। समस्त पदार्थ समान रूप से ज्ञातव्य होने के योग्य नहीं हैं। कोई ज्ञान यदि हितकर तथा सरल है तो दूसरा हानिकर तथा भयंकर हो सकता है। पुनः, कोई ज्ञान अन्य अनेक मूल्यों को अग्रसर करने का सफल साधन हो सकता है। मानव के

अस्तित्व तथा जीवन के व्यापक दृष्टिकोण से, मानव जीवन के अन्य मूल्यों के सन्दर्भ में, ज्ञान का विशद विचार करना अत्यन्त प्रासंगिक है।

ज्ञान मानव संस्था है तथा वास्तव में अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था है। और इसलिये ही उसके अध्ययन के हेतु यह आवश्यक है कि वह समस्त मानव मूल्यों के साथ सुव्यवस्थित रूप से सम्बन्धित किया जा सके। दर्शन के क्षेत्र में यह मूल्योन्मुखता दर्शनशास्त्र को सम्भवतः वर्तमान अमूर्तता तथा रूपात्मकता (फार्मलिज़्म) के दोषों से बचा सके तथा दर्शन शास्त्र को योग्य केन्द्रिय स्थान पर पुनर्स्थापित कर सके, जो ज्ञान के समस्त स्वरूपों को आधार प्रदान करेगा तथा समस्त मानव मूल्यों को प्रगति की ओर प्रेरित करेगा। मूल्यों का अनुभव मानव का प्रभेदक लक्षण है। अतः जो दर्शन मानव अनुभव के इस प्रभेदक गुण को महत्व नहीं देता वह वास्तव में मानव-दर्शन कदापि नहीं है। इस प्रकार मूल्योन्मुखता दर्शन का अत्यन्त स्वाभाविक लक्षण है।

म. स. विश्वविद्यालय, बड़ौदा।

अनुवादक—हरिहर प्रपन्न
म. स. विश्वविद्यालय, बड़ौदा।

1. See अष्टम आह्निकम् of तंत्रसार, particularly pp. 67-72
2. परार्थतत्त्व निरूपण of रघुनाथ, Kaul. M. Patter, pp. 2-5
3. J.P.V.V., Vol III, p. 2
4. J.P.V. (Bhas.), II, p. 9
5. स्वप्नाभासस्तन्मयं च निषप्रतुषारितं - एतान्येव आगमे तन्त्रनिश्चयन्ते । निषप्रतु
as निषप्रतु provides the whole lot of categories.
6. See मन्त्र 2's collection in 6 परार्थ - उपपर 2 विशेषाचारदेव
7. cf. with the concept of निम्न, अध्यमानी हिन्दीकाव्य की तंत्रिक पुष्पमणि, 242

काश्मीर-शैव दर्शन में पदार्थ का स्वरूप

नवजीवन रस्तोगी

काश्मीर शिवाद्वयवाद में पदार्थ-सम्बन्धी विचारों का विकास आभासवाद की त्रिक धारणा के अनुरूप ही हुआ है। अर्थात् पदार्थ की चर्चा आभास-वैचित्र्य की दृष्टि से की गई है। वस्तु को इस दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में आभास कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रमेय, तत्त्व और पदार्थ ये सब आपस में पर्याय हैं^१ और एक ही वस्तु के सूचक हैं। यह मनोरंजक बात है कि तत्त्व और पदार्थ शब्दों के परम्परागत अर्थों (क्रमशः, “तस्य भावः” उसका होना, पदस्यार्थः—पद का अर्थ) को यद्यपि तत्त्व की शैव-मीमांसा में स्थान मिला है फिर भी उसने यहां कुछ वैशिष्ट्य अर्जित किया है। यहां तत्त्व उस वस्तु का नाम है जो सबमें या एक वर्ग के अन्तर्गत सभी वस्तुओं में व्याप्त रहती है।^२ व्याप्ति की प्रणाली या ढंग को लेकर कोई कठोर नियम नहीं है। एक जगह एक तरीके से व्याप्ति संभव है तो अन्यत्र दूसरी तरह से। यह बात और भी स्फुट हो जाती है जब शैव-दार्शनिक पदार्थ को इतर दर्शन के “सामान्य” से समीकृत करता है।^३ अभिनव ने अपनी विवृति-विमर्शिनी में इसे प्रतिबन्धित किया है—पदार्थ आभास-सामान्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।^४ तत्त्व और साधारण वस्तु में यदि अन्तर करना इतना ही आवश्यक हो तो कहा जा सकता है कि जहां प्रत्येक वस्तु आभासरूप है वहां तत्त्व आभास-सामान्यरूप है। यद्यपि इस सम्प्रदाय में न्याय-वैशेषिक की भांति सामान्य या जाति की एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में कल्पना नहीं की गई है, फिर भी इस तुलना से इसके अनुसार तत्त्व का स्वरूप सरलता से समझा जा सकता है। विभिन्न

१. एवमाभासस्तन्मेलनं च नियमानुपण्णितम्—इत्येतावदेव प्रमेयम् । एतान्येव आगमे तत्त्वानि वक्ष्यन्ते । वस्तु, तत्त्वं, प्रमेय इति पर्यायाः ॥ (विमर्शिनी) भास्करी, भाग २, पृ. १२८ ।

२. अतएव च तनोति सर्वमिति च त.....तत्त्वमित्यर्थः ।

तंत्रालोक, भाग ७, पृ. ३ (जयरथ कृत विवेक)

३. एकैकाभासरूपतात्मकं दर्शनान्तरे “सामान्य” इति यद् व्यवहृतम् ॥ (विमर्शिनी) भास्करी, भाग २, पृ. २१४ । भास्कर की व्याख्या है—

“अवभाससामान्यतया व्यवहारविषयीकृतम् ॥”

४. सामान्यरूपमाभासात्मकमेव वदित्वं तत्त्वम् । ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा विवृति-विमर्शिनी, भाग ३, पृ. १६३ ।

वस्तुओं में जो रूप सबमें समान है उसे तत्त्व संज्ञा दी जाती है।^५ सबमें क्या चीज समान है, यह जानने के लिए हमारे पास एक सुनिश्चित और सुनिर्धारित आधार होना चाहिए। एक ही शब्दावली का प्रयोग या अभिव्यक्ति-समता इस समता का निर्धारण करती है।^६ वस्तुतः पदार्थ (पदस्य अर्थः) शब्द से भी यही ध्वनित होता है। यद्यपि पदार्थ का साधारण तौर पर प्रचलन एक वस्तु अथवा अस्तित्व (बीइंग) के एक प्रकार (मोड) के अर्थ में होता है, परन्तु पदार्थ शब्द का अन्तराशः अर्थ यह नहीं है। “पदार्थ” शब्द एक “शब्द के अभिप्राय या अर्थ” को द्योतित करता है। दूसरे शब्दों में, पदार्थ उस वस्तु का प्रतीक है जिसके विषय में भाषात्मक अभिव्यक्ति संभव है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि एक शब्दावली का प्रयोग तमाम वस्तुओं को द्योतित करने के लिए किया जाए तो वह उनके समान अंश का ही संकेतन करेगी। और वह संकेतित वस्तु स्वभावतः ही तत्त्व से भिन्न न होगी। इस प्रकार संभवतः यह कहा जा सकता है कि तत्त्व या पदार्थ की धारणा एक वर्ग-धारणा (क्लास-कॉन्सेप्ट) है। इस विचार को एक अन्य बात से भी समर्थन मिलता है। पदार्थ को शिवा-द्वयवादियों ने “वर्गीकरण का आधार या निमित्त” कहा है।^७ इसके अनुसार तत्त्व (अर्थतः “उसका वास्तविक स्वरूप”) वह चीज है जो वस्तुओं के विशेष रूप वाले वर्गों में अविभक्त, अखंडित प्रकाशित होता है, और इस प्रकार, वे सब वस्तुएँ एक वर्ग के अन्तर्गत हैं, इस के औचित्य को प्रमाणित करता है। उदाहरण के लिए मिट्टी, पत्थर, हड्डी और मांस ये सब अपने आंतरिक स्वरूप में पृथ्वी हैं या पार्थिव पदार्थ हैं, और नदी, कुआँ, पोखर, समुद्र आदि अन्ततः पानी हैं। इससे यह भी निष्पन्न होता है कि तत्त्व केवल वर्गीकरण का ही नहीं एकीकरण का भी कारण है।^८ इस प्रसंग में यह याद रखना आवश्यक है कि “सामान्य” के न्याय-दर्शनगत सिद्धान्त ने तत्त्व की शैव-धारणा को काफी हद तक प्रभावित किया है। अभिनव ने “तत्त्व” की जगह “सामान्य” शब्द का जो प्रयोग किया है वह शायद इस बात पर जोर देने के लिए

५. यद्रूपं बहुधानुगामि तदिदं तत्त्वं विभोः शासने। तंत्रालोक आह्निक ६, श्लोक २। न्याय-दर्शन में सामान्य की इस परिभाषा से कितनी समता है देखें—“अनेकानुगतं नित्यमेकम् सामान्यम्” (तर्क-संग्रह)। नित्यता का अंश भी शैव पदार्थ में निषिद्ध नहीं है। तुलना कीजिए—“आ महाप्रलयस्थायी सर्वप्राप्त्युपभोगकृत्, तत्त्वमुच्यते तज्जैर्न शरीरघटाद्यतः। (जयरथ द्वारा नं. ६. ५-६ पर अपने विवेक में उद्धृत) यहाँ पर नित्यता का अर्थ है तत्त्व का महा प्रलय तक स्थायी रहना।
६. अभिलापसाधारणत्वमेकसामान्यविषयतायां हेतुः। ई-प्र. वि. वि., भाग ३, पृ. ७१। तुलना० “सतो वा वस्तुनः प्रमाणपरिनिश्चितस्वरूपं शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं तदित्युच्यते। तस्य भावस्तत्त्वम्।” न्यायमंजरी भाग १, पृ. ८।
७. ‘वर्गीकरणनिमित्तम्।’ (विमर्शिनी) भास्करी, भाग २, पृ. २१६।
८. इह तस्य भावस्तत्त्वमिति वर्गाणां विशेषरूपाणामेकीकरणनिमित्तं सामान्यमुच्यते। ई. प्र. वि. वि., भाग ३, पृ. २७४।

ही।^{१६} संभवतः यह निर्देश प्रासंगिक होगा कि प्रभाव एक दूसरी दिशा से भी आया है और वह दिशा है आगमों की। मतंगागम से जयरथ द्वारा दिया गया उद्धरण इस कथन की प्रामाणिकता में सन्देह नहीं रहने देता और स्वयं अभिनवगुप्त ने भी इसकी पुष्टि की है।^{१०} इसकी दृष्टि में तत्त्व वह वस्तुरूप है जिसमें उसका आत्मधर्म स्फुट है और जो कभी भी स्वाभाविक आचरण से व्युत्पन्न नहीं होता और किसी दूसरे से अपनी व्याप्ति की अपेक्षा नहीं करता।

अब तक हमने देखा कि एक की अनेक में अनुवृत्तियाँ, एक के द्वारा अनेकों की व्याप्ति अथवा 'अनुगामिता' किसी भी वस्तु को तत्त्व या पदार्थ का नाम देने में प्रमुख आधार है। किन्तु इस अनुगामिता का क्षेत्र अबाधित नहीं है। मानवीय देह और भुवनादि में भी परस्पर काफी साम्य पाया जाता है और अनेक विशेषताओं की एक-दूसरे में अनुवृत्ति संभव है। परन्तु देह और भुवनादि में अनुगामी अंश को तत्त्व की संज्ञा नहीं मिलती^{११}, पर अनुगामिता के आधार पर दी गई तत्त्व की परिभाषा लागू तो इन पर होती है। अतः परिभाषा को अति-व्याप्ति दोष से बचाने के लिए उसे और भी निश्चित और ठोस बनाया गया है। इस परिभाषा को शैवदर्शन द्वारा स्वीकृत छत्तीस तत्त्वों पर ही लागू होना चाहिए। इस परिभाषा में अभिनवगुप्त ने तत्त्व के सभी लक्षणों को संक्षेप में एकत्र कर दिया है।^{१२} तत्त्व वह है जो अपने कार्यों में, संघातों में (जहाँ गुणों के पारस्परिक अभिभव के कारण एकरूपता नहीं है) और अपने जैसे गुण वाले प्रमाताओं में (चाहे वह संकुचित-प्रमाता हों और चाहे विश्व-प्रमाता)^{१३} आत्मस्वरूप को सक्रान्त करता है; दूसरे शब्दों में, निज-स्वरूप से उन्हें व्याप्त

६. वही।

१०. "तत्त्वं यद्वस्तुरूपं स्यात् स्वधर्मप्रकटतात्मकम्। तत्त्वं वस्तुपदं व्यक्तं स्फुटमाभ्यायदर्शने ॥ यद्व्युत्तं स्वकात् वृत्तात् तत् च आत्मवशंगतम्। तत्तन्मन्येन नो तस्मात् तत्तत्त्वं तत्त्वसन्ततौ ॥" मतंगागम १-५-४। जयरथ द्वारा विवेक (त ६-६) में और अभिनवगुप्त द्वारा ई. प्र. वि. वि., भाग ३, पृ. २६४ पर उद्धृत।

११. त. ६. ४-५।

१२. स्वस्मिन् कार्येऽथ धर्मोऽपि यद्वापि स्वसहकृणो ॥

आस्ते सामान्यकल्पेन तननाद् व्याप्नु भावतः।

तत्तत्त्व क्रमशः पृथ्वी प्रधानं पुं शवादयः।

देहानां भुवनानां च न प्रसंगस्ततो भवेत्। तं ६. ४-६ और भी देखिए, स्वस्मिन् स्वस्मिन्

गुणो भाति यद्यद्रूपं समन्वयि। तदेषु तत्त्वमित्युक्तं—। तं ६, ५४-५५।

१३. यही बात शिवतत्त्व आदि की ऐसी व्याख्याओं की प्रेरक आधार है—"तस्य चैतन्यवर्मस्य तादृशि भावराशौ तथा प्रथमं नाम यच्चिद्विशेषतत्त्वम्" (विमर्शिनी) भास्करी, भाग २, पृ २३०।

करता है। यहां यह उल्लेख आवश्यक होगा कि सभी स्थितियों में व्यापन की शैली एक ही नहीं है। पृथ्वी, प्रकृति, पुरुष और शिव (ये सभी तत्त्व हैं), सभी व्यापक हैं पर उनका व्यापन-प्रकार पृथक् है। सभी पार्थिव सृष्टियों में पृथ्वी उपादान के रूप में व्याप्त रहती है। अर्थात् सारे पार्थिव पदार्थ अन्ततः पृथ्वी रूप ही हैं। प्रकृति अपने विकारों में उस तरह से व्याप्त होती है जैसे गुण अपने संघातों में। पुरुष और शुद्ध सृष्टि के शिव आदि तत्त्व अपने समान गुण वालों में उसी तरह अनुवृत्त होते हैं जैसे एक सामान्य व्यक्तियों में व्याप्त रहता है। उदाहरणों की संख्या बढ़ाई जा सकती है। इसी प्रकार अहंकार आदि (अंतःकरण) भी तत्त्व हैं क्योंकि ये इन्द्रियरूप अपने कार्यों में व्याप्त रहते हैं। इस प्रकार हम देखेंगे कि यद्यपि व्यापन का एक निश्चित प्रकार नहीं है फिर भी स्थूल रूप से व्यापन-प्रकारों का तीन रूपों में विभाग किया जा सकता है। एक है कार्य में उपादान की व्याप्ति, दूसरी है संघात में संघात-अवयवों की व्याप्ति या अनुस्यूति और तीसरी है व्यक्ति में सामान्य की अनुगति या अनुवृत्ति। विभिन्न वर्गों या वस्तुओं में यदि किसी वस्तु की, उपर्युक्त व्यापन प्रकारों में से किसी भी एक प्रकार से, व्याप्ति या अनुवृत्ति है तो उसे तत्त्व संज्ञा देने में शैव पदार्थवादी को संकोच न होगा। देह, भुवन आदि वस्तुओं को तत्त्व अथवा पदार्थ न मानने के पीछे यही युक्ति दी जाती है कि वह अपने कार्यों में व्याप्त नहीं होते। देह का कार्य है विविध चेष्टाएं; भुवनादि फल-भोग की भूमि हैं; ये दोनों ही चेष्टा या फलादि में व्याप्त नहीं होते।^{१४} यही नहीं, घट जैसे स्थूल कार्य आदि भी स्वतन्त्र तत्त्व नहीं माने जाते, क्योंकि अग्ने से परवर्ती किसी पदार्थ में वे व्याप्त नहीं होते। इसके भी मूल में एक कारण है। तत्त्वों का विचार शैव दर्शन में कारण-कार्यभाव के सन्दर्भ में हुआ है। परम शिव प्रथम कारण है और पृथ्वी अंतिम कार्य। इन दोनों के बीच सारा तत्त्व-जगत् एक आनुपूर्वी में आ रहा है।^{१५} इस आनुपूर्वी-संबंध (क्रम सम्बन्ध) को महेश्वरानन्द ने स्पष्टतः कारणता मूलक माना है।^{१६} तत्त्वों में पारस्परिक प्रयोज्य-प्रयोजक भाव है और अंतिम कारण—परमशिव—की स्वातन्त्र्य शक्ति को सामान्य प्रयोजक माना गया है।^{१७} इस प्रकार तत्त्व-विचार के मूल में कारणता-दृष्टि रही है। इसका सहज परिणाम यही हुआ है कि घट, भुवन आदि तत्त्व नहीं माने जा सके हैं। ऊपर की सभी व्यापन-पद्धतियों में अनुगामिता की सम्भावना का निषेध सहज नहीं है। पर देह, भुवन आदि

१४. ततश्च देहभुवनादौ नैव प्रसंगः, नहि स्वकार्ये चेष्टादौ तत्त्वयोगादौ च देहादित्वमनुगामिता-मियात्। तन्त्रालोक, भाग ६, पृ. ५ (जयरथ कृत विवेक)।

१५. परमशिवादुपरि न कर्त्रन्तरस्फुरणम्। पृथिव्या उपरि न कार्यन्तरोत्पत्तिश्च। तयोर्यः प्रतिपदार्थमानुपूर्व्येण व्यवहियमाणो.....मध्यवर्तीतत्त्वसंघातरूपोऽर्थः। महार्थमंजरी पश्चिम, पृ. ३७।

१६. ततश्च पृथिव्याम् अनश्रितप्रभृतीनि पंचत्विंशदपि

तत्त्वानि कारणवासनानुवृत्तिद्वारा परिस्फुरन्ति—। वही, पृ. ६७।

१७. वही पृ. ६८-७०।

को इस दृष्टि से घट के समस्त ही माना गया है कि वे तत्त्व नहीं हैं। अर्थात् देहादि में पाया जाने वाला सामान्य तत्त्वरूप नहीं है। अभिनवगुप्त ने अपनी विवृति-विमर्शिनी में इस प्रसंग में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात कही है। वह यह मानते हैं कि आभास-सामान्य ही तत्त्वरूप हो सकता है। परन्तु यह आभास सामान्य, चाहे यह सीमित प्रत्यक्ष का विषय हो या सार्धजनीन अनुभव का, “विभव-रूप” में जब तक विकसित नहीं होता तबतक तत्त्व नहीं हो सकता। विभव का यहां एक पारिभाषिक शब्द के तौर पर प्रयोग हुआ है। तत्त्व शब्द की निष्पत्ति संस्कृत की तन् धातु (तनु विस्तारे) से हुई है, जिसका अर्थ है विस्तार करना। “विभव” शब्द आभास सामान्य के उस आत्म-विस्तार की ही व्याख्या करता है। विभव का अर्थ है “विचित्र प्रकार से होना” (विचित्रेण भवनम्)। भवन-क्रिया का यह वैचित्र्य मिश्रण पारस्परिक व्याप्ति और विभाग की त्रिविध पद्धति के सहारे पलता है। घट का आत्मविस्तार किसी भी दूसरे रूप में संभव नहीं है परन्तु मिट्टी या पृथ्वी का आत्मविस्तार नाना रूपों में संभव है। उदाहरण के लिए घट पृथ्वी से मिश्रित प्रतीत होता है, मिट्टी में यह व्याप्त है और मिट्टी इसमें व्याप्त रहती है, और फिर भी यह मिट्टी से पृथक् दिखाई पड़ता है। वस्तु-घटना का यही प्रकार है। मिट्टी तत्त्व है क्योंकि घट रूप में इसका ‘विभव’ संभव है, पर घट का अन्य रूप में ‘विभव’ संभव नहीं है। इस विविधरूपता का उल्लास उपर्युक्त त्रिविध पद्धति के सहारे ही हो पाता है। मिट्टी का उपयोग यहां पर एक तरीके से उपलक्षणार्थक है। सभी तत्त्वों में यह बात समान रूप से पायी जायेगी—कि वे (१) किसी न किसी के अनुभव-विषय हैं, (२) आभास-सामान्य रूप हैं और (३) विभवतया विकसित हो सकते हैं।^{१८} इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि तत्त्व होने के लिए वस्तु का आभास-सामान्य रूप होना ही आवश्यक नहीं है, उसके अन्दर आत्म-विस्तार की संभावना भी उतनी ही आवश्यक है। इसीलिए और गहरे जाने पर पता चलेगा कि तत्त्वजगत् का विकास निरन्तर दो दिशाओं में हो रहा है—समानान्तर (पैरेलल) और क्रमिक (सबसेसिव)। एक ओर सम इकाइयों (आइडेन्टिकल यूनिट्स) में हर तत्त्व फैलता है और दूसरी ओर आनुपूर्वी में किसी दूसरी वस्तु को व्यक्त या प्रकट करना है। तत्त्व की यह विभव-सामर्थ्य ही उसका प्राण है जबकि देह, घट, भुवन आदि में इस सामर्थ्य का अभाव है। वस्तुतः इस सामर्थ्य के बल पर समस्त प्राणिजगत्, भावजगत् और भुवन-संसार के रूप में तत्त्व ही भासित होते हैं। साधारण आभास तत्त्व का केवल इसी अर्थ में पर्याय है कि तत्त्व उस रूप में आभासित हुआ है। इस बात में संदेह और ऊहापोह की कुछ भी गुंजाइश नहीं रखी गयी है। अभिनव स्पष्ट कहते हैं कि तत्त्व आभास-सामान्य रूप है और गुणगुणिभाव से, शेषशेषिभाव से, अंगांगिभाव से विचित्र सामर्थ्य के साथ मिलकर

१८. कतिपयदृश्यं सर्वजनदृश्यं च यदाभासरूपं सामान्यं, तद् यतो विभवात्मना तन्यते, ततस्तत् तत्त्वमुच्यते। घटादि च न अन्येन रूपेण तन्यते। तद्धि पृथिव्यादेर्विमिश्रतया अन्यो-न्यत्याप्त्या विभागेन च विचित्रेण भवनम्—इति विभवमुच्यते। इ. प्र. वि. वि., भाग

भोक्ता, भोग्य और उन दोनों के अधिकरण के रूप से भासित होते हैं । ११ भूत शब्द भोक्ता का, भोग्य भाव का और भुवन इन दोनों के अधिकरण का वाचक है । दूसरे शब्दों में, हमारे भोग और अनुभव का सारा जगत् इन तत्त्वों का ही विलासमात्र है । भूत सृष्टि प्राणी और देह की सृष्टि है, भाव-सृष्टि घटादि रूप विषय-सृष्टि है और अधिकरणसृष्टि भुवनसृष्टि है । कह सकते हैं कि तत्व का क्रमिक इकाइयों में विश्लेषण और उसकी व्याप्ति का अनुसंधान संभव है जबकि भूत, भाव और भुवनादि के सम्बन्ध में यह विश्लेषण संभव नहीं है । इसलिए शिवाद्वयवाद में तत्व की भूत, भाव और भुवन से हमेशा अलग गिनती की गयी है और एक क्षण के लिए भी उन्हें मिलाया नहीं गया है । २०

इससे यह भी स्पष्ट है कि न्याय के “सामान्य” की शब्दावली में तत्व निर्णय समझने की सुविधा के लिए हुआ है अन्यथा दोनों में मौलिक अन्तर है । न्याय में केवल नित्य अनुगामिता ही सामान्य का रूप है । यहां मात्र अनुगामिता सामान्य का रूप-निर्धारण नहीं करती, यह हमने ऊपर देखा है । २१ इस अनुगामिता का स्वरूप न्याय-दर्शन की अनुगामिता से व्यापक है, शैव मत में यह अनुगामिता त्रिविव है । इसके अतिरिक्त, न्याय में पदार्थ का अर्थ एवं क्षेत्र सामान्य के अर्थ एवं क्षेत्र की अपेक्षा कहीं व्यापक है । पदार्थ के व्यापक-वर्ग में सामान्य का अवान्तर-वर्ग अन्तर्भूत है । काश्मीर-दर्शन में पदार्थ और सामान्य को प्रायः समानार्थक माना गया है । एक दूसरा अंतर भी है । जहां न्याय में पदार्थ की स्वरूप-धारणा सामान्य को पदार्थ की ख्याति देने के लिए उत्तरदायी है वहां काश्मीर शैव मत में सामान्य की धारणा पदार्थ-लक्षण का मूलधार है । परन्तु सामान्य के ग्रहण में यहां नैयायिक के पदचिह्नों का अन्धानुकरण नहीं हुआ है अपितु सामान्य के स्वरूप का शैव-मन्तव्यों के अनुरूप विकास हुआ है ।

अब हम समस्या के दूसरे पहलू की ओर मुड़ते हैं । यद्यपि यह संकेत किया जा चुका है कि प्रमेय और आभास दोनों ही तत्व, वस्तु, या आभास के पर्याय हैं २२ फिर भी उनकी ज्ञेयता या प्रमेयता पर अभी तक कुछ नहीं कहा गया है ।

शिवाद्वयवाद में आभास शब्द का प्रयोग अद्वैतवेदान्ती सुरेश्वराचार्य के आभासवाद से भिन्न अर्थों में हुआ है । परम सत्य के परिच्छिन्न आभासन (आ ईषत् भासनम्) के लिए

१६. तत्त्वानि हि सामान्यावभासरूपाणि गुणगुणिभावेन विचित्रेण सामस्येन मिलितानि भोक्तृ-

भोग्यतद्द्वयाधिकरणरूपतया भूतभावभुवनात्मना भान्ति । वही, पृ. १४६ ।

२०. तत्सकलोऽयम् तत्त्वभूतभावभुवमसंसारः संविदिविश्रान्तः—(विमर्शिनी), भास्करी, भाग १, पृ. २४६ ।

२१. अत्र पक्षद्वये वस्तुविभिन्नं भासतेयतः ।

अनुगामिन सामान्यमिष्टं नैयायिकादिवत् ॥ तं. ११-५ ।

२२. ज्ञेयता आभासानामेव वस्तुत्वं दर्शयता आगमसिद्धान्येव वस्तुनीति दर्शितम् ।

ई. प्र. वि. वि., भाग २, पृ. १५७ ।

आभास शब्द का प्रयोग हुआ है। यह परिच्छिन्न या “ईषत्” भासन स्वयं ज्ञेयता का धर्म है।^{२३} इस बात पर विशेषरूप से ध्यान आकर्षित किया गया है कि जिसे हम “धर्म” कहते हैं वह अर्थ या वस्तु का आभास (अर्थाविभास) है^{२४}, और जिसे धर्म कहते हैं वह स्वरूपावभास है। प्रमेयता स्वयं धर्मरूप है, अर्थात् अर्थावभास और प्रमेयता धर्म एक ही चीज़ है। परम सत्य या तत्त्व की अपेक्षा से यह आभास मेय या परिच्छिन्न है। अवभास्य होने के कारण ही वह मेय है, क्योंकि चरम सत् का वह व्याप्य है। प्रमाण-विज्ञान की दृष्टि से भी वह वस्तु या ज्ञेय है। प्रमाण-व्यापार की पहुँच के वह भीतर है, क्योंकि हमारे दैनन्दिन व्यवहार में उसके द्योतन के लिए किसी न किसी पदावली का उपयोग होता है।^{२५} वे प्रमेय हैं क्योंकि वे हमारे ज्ञान के विषय हैं। उनके ज्ञान-विषय होने का सीधा सा कारण यही है कि व्यवहार जगत् में हमारे प्रवेश के लिए आवश्यक है कि हम पहले उन्हें जान लें।

इसीलिए उनको लेकर प्रत्यक्ष और अनुमान आदि व्यावहारिक प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है, ऐसा माना गया है। तत्त्व की विभवे-सामर्थ्य के विवेचन प्रसंग में हमने देखा था कि अभिनव ने किसी वस्तु के तत्त्व हो सकने के लिए तीन अनिवार्य शर्तें रखी हैं: सबसे पहले, वह सामान्य रूप हो, फिर ज्ञान का विषय हो और तीसरे वह विभवतया परिणत हो सकता हो। यह आवश्यक नहीं है कि वह सबके ज्ञान का विषय हो। वह सबके ज्ञान का विषय भी हो सकता है और कुछ लोगों के ज्ञान का भी। पारिभाषिक शब्दावली में, ज्ञान का विषय होने का अर्थ है कि उस विषय का प्रमाता में दर्शन इत्यादि द्वारा उपलब्धित किसी भी अर्थ क्रिया विशेष को संपादित कर सकने की योग्यता का होना, जैसे रूप-विषय दर्शन नामक अर्थ क्रिया को सम्पन्न करता है। दूसरे शब्दों में, प्रमाता को रूप का चान्क्षुष प्रत्यक्ष होता है, अतः रूप प्रत्यक्ष का विषय है।^{२६} प्रत्यभिज्ञा-कारिका के ऊपर अपनी विमर्शिनी नामक वृत्ति में अभिनवगुप्त ने वस्तु की वेद्यभाव में परिनिष्ठित दशा को ही तत्त्व का स्वरूप कहा है। दूसरे शब्दों में, वेद्यभाव ही जाकर तत्त्वभाव में परिणत होता है।^{२७} इसको हम यों समझ सकते हैं। कि तत्त्वजगत् ही वस्तुतः व्यवहार-जगत् है। हमारा सारा व्यवहार अनुभवमूलक है अर्थात् तत्त्व-भूमि अनुभव की भूमि है। हर तत्त्व एक विशिष्ट अनुभव का संकेत करता है। तत्त्व के लिए दूसरा पर्याय “आभास” इसी का द्योतन करता है। आभासते का अर्थ है

२३. आगमे तु आकारेण ईषदर्थवाचिना प्रमेयताधर्म आभासशब्देन उक्त इति यावत् ।

वही पृ. १६३ ।

२४. अर्थावभासो हि धर्मत्वेन उच्यते, न तु स्वरूपावभासः । वही ।

२५. एकाभिधानविषये मितिर्वस्तुन्यबाधिता..... अभिलापेन साधारणो य एव अभिलापविषयः, स एव अर्था यस्य तद्भावस्तत्तातया । वही पृ. ७१ ।

२६. द्रष्टव्य ई. प्र. वि. वि., भाग २, पृ. १४८ ।

२७. “वेद्यभावनिष्ठा दशा तत्त्वस्वरूपा”। (विमर्शिनी) भास्करी, भाग २, पृ. २२७ । यहां पर भास्कर का व्याख्यान बड़ा सारगर्भित है । देखिए वहीं पर ।

प्रमाता के प्रति पदार्थ का आभासन । इस प्रकार अनुभव प्रमाता का धर्म है । अनुभवरूप प्रत्येक तत्त्व प्रमातृ विशेष की संवेद्य वस्तु है । यही संवेद्य वस्तु सामान्य रूप में तत्त्व बनती है । इसलिए अन्यत्र अभिनव ने सामान्यरूप विमर्श को ही पदार्थ माना है । २८ प्रमाणमीमांसा की दृष्टि से वस्तु का सामान्यात्मक ज्ञान ही पदार्थ रूप से गृहीत होता है । इसलिए सारा तत्त्वसंघात प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ग्राह्य माना गया है । २९ न्याय-दर्शन में भी हमें करीब करीब यही दृष्टिकोण मिलता है । उद्योतकर ने विलकुल साफ स्वर में कहा है कि सारे पदार्थ ज्ञेय हैं । ३० वाचस्पति ने इसी विचार का अनुमोदन किया है । ३१ यहां भी बार बार यह बात कही गयी है कि यह सारा तत्त्व-राज्य प्रमेयरूप या विषयरूप है । ३२ वस्तुतः चरम सत्य से अभिन्न होने के कारण तत्त्व भी अप्रमेय है, परन्तु तत्त्वरूप में स्फार का अर्थ है कि परमार्थतः अप्रमेय का भी प्रमेय बन जाता है । उदाहरण के लिए, स्वयं शिव तत्त्व (प्रथम तत्त्व) भी प्रमेय या आभास माना गया है । जैसे पृथ्वी कठिनता का अवभास है, माया भेद का अवभास है, उसी प्रकार मायातत्त्व से परे शुद्ध प्रकाश का—चित् का—अवभास शिवतत्त्व की संज्ञा पाता है । अतः निष्कर्ष निकलता है कि तत्त्व प्रमेय है । ३३ इन प्रमेयों को आगमाधिकार में तत्त्व कहा गया है । यहां पर एक प्रश्न किया जा सकता है कि हम तत्त्व की प्रमेयता या विषयता की बात ही क्यों करें या उठाएं ? इस प्रश्न के उत्तर में पदार्थमीमांसा (ऑन्टोलोजी) परमार्थमीमांसा (मेटाफिज़िक्स) का आश्रय लेती

२८. “परो यो विमर्श स एवायम् पदार्थ इति एकः प्रत्यवमर्शरन्यः ।” (विमर्शिनी) वही, भाग १, पृ. ११७ । भास्कर कहते हैं “परः सामान्यरूपः” वहीं पर ।

२९. यहां पर एक विप्रतिपत्ति उठती है: आगमाधिकार के तत्त्वनिरूपण नामक अधिकरण के प्रारम्भ में अभिनवगुप्त ने पदार्थ निर्णय का आधार आगमों को माना है क्योंकि प्रत्यक्ष का व्यापार सीमित है और अनुमान के तदाश्रित होने के कारण उसकी भी निश्चित सीमा है । केवल आगम ही अपरिच्छिन्न ज्ञान में समर्थ है । अतः पदार्थमीमांसा आगम का आधार लेकर ही चल सकती है । परन्तु अभी अभी ऊपर कहा गया है कि पदार्थ प्रत्यक्ष आदि के भी विषय हैं । वस्तुतः इन दोनों ही स्थितियों में विरोध नहीं है । पदार्थों के वास्तविक स्वरूप, उनके धर्म और संख्या के निर्धारण में आगम समर्थ हैं । परन्तु व्यवहार जगत् में जहां उनमें से प्रत्येक के बोध या अनुभव का प्रश्न उठता है वहां व्यावहारिक प्रमाणों की व्यापार-सामर्थ्य के भीतर ही वे रहते हैं । इसलिए वे प्रमेय, प्रमाण-माध्य, हैं ।

३०. सर्वे पदार्थाः ज्ञेयतयोपक्षिप्यन्ते । न्याय-वार्तिक १-१-८, पृ. २३ । पृ. १२ भी देखिये ।

३१. जात्यभिप्रायमेकवचनं, प्रकृते प्रमेये यथायथं प्रमाणानुपयोगात् । न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका १-१-६, पृ. २०८ ।

३२. विश्वप्रमेयीकरणप्रतिलब्ध — । (विमर्शिनी), भास्कर व्याख्या करते हैं:—

“परमार्थतोऽप्रमेयत्वेऽपि प्रमेयतासंपादनम्” । भास्करी, भा. २, पृ. २१३ ।

३३. इत्येतावदेव प्रमेयम् । एतान्येव आगमे तत्त्वानि वक्ष्यन्ते । (विमर्शिनी), वही, पृ. १२८ ।

है। शैव-चिन्तक का केवल एक ही लक्ष्य है। वह सत्य का संधान, चरम सत्य की उपलब्धि करना चाहता है। यह तत्त्व-विमर्श चरम सत्य की प्राप्ति का द्वार है। युक्ति यह है कि विषयता के वास्तविक मर्म से यदि हम एक बार भी परिचित हो जाएँ तो तत्त्वजगत् से परे 'सत्य' का बोध सहज हो जाता है। स्वरूप-बोध ही अद्वैत दर्शन का उद्देश्य है। स्वरूप-बोध या आत्मप्रमातृत्व का हृदयंगम होना दोनों एक ही बातें हैं। यह आत्मप्रमातृता निश्चय ही प्रमेय से भिन्न है। अतः प्रमेय के वास्तविक रूप का यदि ज्ञान हो जाए तो आत्म-स्वरूप का विवेक कठिन नहीं रहता। ३४ शिवाद्वयवाद की दार्शनिक शब्दावली में कहें तो परतत्त्व विषयता से अतीत है। वह अपने स्वरूप में सर्वदा प्रकाशित है, प्रकाशरूप है। यदि हम सृष्टि-प्रक्रिया के व्यावहारिक छोर से चलें तो शिव तत्त्व जगत् का अंतिम तत्त्व ठहरता है जिसका वर्णन "चित् या प्रकाश के आभास" के शब्दों में किया जाता है। जागतिक व्यापार में हमारी दृष्टि भेदाभेद मूलक रहती है। जिस प्रकार हम घड़े का ज्ञान करते हैं उस प्रकार शिवगत प्रकाश का भी। अतः शिव तत्त्व का यथार्थ-बोध हो जाने पर परमशिव की उपलब्धि का द्वार उन्मुक्त हो जाता है। ३५ पर चूंकि शिवतत्त्व का बोध भी एकदम से संभव नहीं है हम सोपान की प्रथम सीढ़ी, पृथ्वी तत्त्व, से प्रारंभ करते हैं जहां प्रमेयता स्फुटतम है। पर जिस तरह से ईश्वर के रस की मिठास गुड़ की घेली में बची रहती है उसी प्रकार शिव की प्रकाशरूपता का अपलाप पृथ्वी आदि में कहीं नहीं होता। शिव और शिवेतर तत्त्वों में केवल स्त्यानता, काठिन्य या जमाव की क्रमिक अधिकता को लेकर ही भेद है। स्त्यानता का अर्थ प्रमातृभाव की अप्रधानता और वेद्यता का उत्कर्ष है। शिवाद्वयवाद के एक अवान्तर सम्प्रदाय क्रम-दर्शन का भी इस विषय में यही मन्तव्य है। ३६ पांचरात्र मत में भी कहीं कहीं यही विचार देखने को मिलता है। ३७ न्याय-वैशेषिक दर्शन में भी तत्त्व या प्रमेय विचार के पीछे परमपुरुषार्थ

३४. न च विश्वप्रमेयतापादनं न उपयोगि प्रकृतायामीश्वर प्रत्यभिज्ञापनायाम्। विश्व प्रमेयी-
करणे हि तावत्प्रमेयपदोत्तीर्णातावदन्तःकरणप्रतिलब्धपूर्णभावा सत्यप्रमातृता हृदय-
गमोक्तता भवेत्। ई. प्र. वि. वि., भाग ३, पृ. २२५, तुलना--
दिदृक्ष्येव सर्वार्थान्यदा व्याप्यावतिष्ठते।

तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावभोत्स्यते ॥" स्व. का. ४३।

३५. इति घटे एव यथा भेदाभेददृष्टिस्तथा परमेश्वरे प्रकाश इति व्यवहारोऽपि अयं
भगवदनुगृहीतानां परमार्थप्रवेशे प्रत्युभ्युपायः न तु विरोधी। ई. प्र. वि. वि., भा. ३,
पृ. १५२।

३६. शिवात्मा खलु प्रकाशः शक्तिसदाशिवपरिपाद्यनुसारेण प्रस्तुतभूतपंचकपर्धन्तं स्त्यानी भवति
...केवल शिवात् स्वच्छभावात् स्त्यानताविक्रमेतेषां भेदः। महार्धमंजरी-परिमल, पृ. ६७।

३७. "संविदेव हि रूपं मे स्वच्छस्वच्छन्दनिर्भरा।

सापीनुरसवद योगात्स्त्यानतां प्रतिपद्यते ॥

अतो निरूप्यमाणं तच्चैतयं चित्तमुपैष्यति। लक्ष्मीतंत्र, वही, उद्धृत।

की प्राप्ति का आग्रह रहा है । ३८

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये पदार्थ अथवा “ज्ञान-विषय” स्वरूपतः सारे व्यवहार जगत् को समेट लेते हैं। इसका कारण है कि उन्हें “अन्टोलॉजिकल” पदार्थ माना गया है। तात्पर्य यह है कि वे केवल प्रमाण मूलक (इपिस्टिमॉलॉजिकल) विषय ही नहीं हैं अपितु अस्तित्वमूलक विषय (आब्जेक्ट्स ऑफ वीइंग) हैं। यहां पर एक प्रश्न हो सकता है कि क्या सत्यता का विषय (कॉन्टेन्ट) उन पदार्थों में ही नियमित और समाप्त किया जा सकता है या वे अपेक्षाकृत अधिक मौलिक और चरम पदार्थ की अभिव्यक्तियां हैं? शैव दार्शनिक ने इस समस्या पर गंभीरता से विचार किया है। वह पहले प्रश्न का निषेध में और दूसरे प्रश्न का स्वीकृति में उत्तर देता है। चरम सत्य का कॉन्टेन्ट उन पदार्थों में समाप्त नहीं किया जा सकता, अपितु वे एक परतत्व के स्फार हैं। शिवाद्वयवादियों की एक बड़ी संख्या उन्हें अधिक चरम पदार्थ के स्फुरण मानती है जिसे उन्होंने परम शिव का नाम दिया है। इस सन्दर्भ में परम शिव को भी लाक्षणिक शब्दों में पदार्थ माना गया है। वह चरम पदार्थ है । ३९ लेकिन बहुमत की दृष्टि में परम शिव तत्वरूप नहीं है, फिर भी परम शिव वह “परतत्व” है जिसके सारे पदार्थ अभिव्यक्ति, आभास, अंश या पहलू हैं । ४० इस निष्कर्ष के लिए हमारे पास एक ठोस आधार है। परम शिव के साथ इन लुप्तोत्त तत्त्वों के वर्गीकरण के कई प्रयास हुए हैं।

३८ ज्ञातं सगुणसगुणं यन्मोक्षाय भवायवा ॥

तत्प्रमेयमिहाभीष्टं न प्रमाणार्थमात्रकम् । न्यायमंजरी, भाग २, पृ. २; और भी “न प्रमेयवद प्रमेयमात्रे वर्तते, किन्तु यत्तत्त्वतो ज्ञायमानमपवर्गसाधनं तस्मिन्” तत्त्वात्माद्येव नान्यत्..... । न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका १-१-६, पृ. २०८ । मल्लिनाथ कहते हैं — “न प्रमेयमपवर्गार्थं ज्ञेयं तत्प्रमेयम्” । वही उपर्युक्त उद्धरण हर्ष नारायण द्वारा “दी कॉन्सेप्ट ऑफ कैटेगरी इन न्याय ट्रेडीशन” में उद्धृत । भारती, बुलेटिन आव् दि कालेज ऑव इन्डोलोजी (बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय) संख्या ४, १९६०-६१, पृ. ६४-६८ ।

३९. कुछ लोगों ने अइतीसवें पदार्थ की सत्ता भी स्वीकार की है। परन्तु उससे कोई सैद्धान्तिक कठिनाई नहीं खड़ी होती। महेश्वरानन्द स्पष्ट कहते हैं — सोऽयं स्वात्मसात्कृताशेषषट्-त्रिंशत्तत्त्वकलापो महान् परमशिवभट्टारकाद्वयः प्रमाता सप्तत्रिंशतया स्वीक्रियते । तस्य तादृशप्रतापि पर्यन्ततो विकल्पकदयामनुप्रविशति । अविकल्पात्मना च भाव्यं विश्वोत्तरेणो-त्यतोऽन्यविकल्पवृत्तिरष्टात्रिंशः कश्चिदागमेऽवंगीक्रियते ।” महार्थमंजरी, २६वीं कारिका की परिमल टीका; और भी देखिए — “व्याख्यातवेषाणां तत्त्वानां मध्ये परमशिवभट्टारकः सर्वोपायप्रतिपाद्य इति वही, पृ. १४७ ।

४० परमशिवभट्टारकस्य शक्तिः स्वातन्त्र्यलक्षणा महती तत्त्वानामन्योन्य प्रयोजकभावे पर्यन्ततः सामान्यप्रयोजकत्वे च प्रगल्भा भवत्युज्जृम्भते पृथिव्यादि भाववर्गमिवानाश्रित शिवभट्टारक-मपि क्रोडीकृत्याभिवर्तते तद्रूपतया परिस्फुरतीत्यर्थः॥”

आगमों में परशिव को तत्वातीत कहा गया है और शेष तत्त्वों को दो शीर्षकों में बांटा गया है— शुद्ध तत्त्व और अशुद्ध तत्त्व। शिव से लेकर शुद्ध विद्या तक के पांच तत्त्व शुद्ध-सृष्टि या शुद्ध तत्त्व कहलाते हैं, क्योंकि इस दशा का अनुभव अभेदमूलक होता है। शेष एकत्तीस तत्त्वों में भेदानुभूति की प्रचलनता के कारण उन्हें अशुद्ध-सृष्टि या अशुद्ध तत्त्व माना जाता है। सोमानन्द ने अपनी शिव दृष्टि के प्रारंभ में ही इस आगमिक पद्धति का अनुवर्तन करते हुए तत्त्वों को तीन शीर्षकों में विभाजित किया है—पर, परापर और अपर^{४१}। परशिव परतत्त्व है (पदार्थ दृष्टि से ही परमशिव को पर “तत्त्व” की आख्या मिली है)—अनुभूति की यह निर्विकल्प सामरस्यमयी स्थिति है। शिव से शुद्धविद्या या शुद्धसृष्टि के तत्त्व—पंच परापर कोटि में आते हैं— यहाँ अभेदानुभूति की मुख्यता होने पर भी भेद की संभावना बीजरूप से उगती है। परतत्त्व की अपेक्षा से अपर और अपरतत्त्वों की अपेक्षा से पर होने के कारण इन्हें परापर कहते हैं। अपर के अंतर्गत भेदानुभूति-प्रधान वही इकत्तीस तत्त्व (मायातत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व पर्यन्त) आते हैं। परन्तु परतत्त्व की दृष्टि से बाद की दोनों कोटियाँ परापर एवं अपर-अपर रूप रह जाती हैं। स्पन्द-कारिका के यशस्वी टीकाकार रामकण्ठ को यही क्रम मान्य है। उन्होंने सामान्य स्पन्द और विशेष स्पन्द नामक दो कोटियाँ मानी हैं और उन्हें क्रमशः परापर और अपर तत्त्वों से समीकृत किया है।^{४२} महेश्वरानन्द ने स्पष्टता के आग्रह से और क्रम दर्शन की पंचात्मिका प्रकृति से प्रभावित होकर अपने वर्गीकरण में पांच कोटियाँ रखी हैं—पर, सूक्ष्म, स्थूल, स्थूलतर और स्थूलतम।^{४३} परम शिव परतत्त्व है। शुद्धतत्त्व-पंचक सूक्ष्म कोटि में आते हैं। प्रकृति, पुरुष आदि तत्त्वों को स्थूल माना गया है। पृथ्वी आदि पंचभूतों की गिनती स्थूलतर में हुई है। घड़ा, कपड़ा जो विशुद्ध कार्य रूप हैं वह स्थूलतम वर्ग के अंतर्गत हैं। परन्तु अन्तिम कोटि को, जिसमें शुद्ध कार्यों की गणना हुई है, तत्त्वरूप नहीं माना जाता है। अतः महेश्वरानन्द का यह वर्गीकरण चार कोटि वाला ही रह जाता है। हमारे इस विवेचन का एक ही अभिप्राय है। ऊपर के समस्त वर्गीकरणों में हमने देखा है कि परमशिव का सर्वत्र उल्लेख हुआ है और उस उल्लेख में परमशिव का परतत्त्व के रूप में उन्मेष हुआ है। परशिव की परतत्त्वरूप सार्वत्रिक मान्यता ऊपर प्रतिपादित इसी निष्कर्ष का पोषण करती है कि इन छत्तीस तत्त्वों में ही सत्य की अभिव्यक्ति पूरी नहीं हो जाती अपितु ये तत्त्व अपने से अतीत, व्यापक और पूर्णतर सत्ता के आभास हैं। इस सन्दर्भ में एक पूर्वोक्त कही हुई बात को

४१. शिवदृष्टि १-३-४ और उनपर उत्पल की वृत्ति पृ. ६-७।

४२. गुणादिस्पन्दनिष्पन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात्। लब्धात्मलाभाः सततं स्युः॥ स्पन्द-कारिका

१६।

४३. व्याख्यातत्रेपाणां तत्त्वानां मध्ये परमशिवभट्टारकः सर्वोपायप्रतिपाद्य इति परत्वेनावतिष्ठते। अन्येषु च शिवादीनि कानिचित् सूक्ष्माणि, प्रकृतिपुरुषप्रभृतीनि स्थूलानीति कल्पनायां पृथिव्यादीनामपि प्रतिपन्नम्। यत्तत्कार्यभूताः स्तम्भकुम्भादयः स्थूलतमा इति व्यपदिश्यन्ते। महार्थमंजरी-परिमल, पृ. १४७।

दुहराना प्रासंगिक होगा। इन्हीं महेश्वरानन्द के अनुसार तत्त्वों के आपसी संबंध को प्रयोज्य-प्रयोजकभाव की शब्दावली में व्यक्त किया जा सकता है। अर्थात् एक तत्त्व दूसरे को या तो प्रेरित करता है या उससे प्रेरित होता है। परन्तु उन सभी तत्त्वों का पार्यन्तिक प्रयोजक या प्रेरक एक है—वह किसी का भी प्रयोज्य नहीं है, वह प्रेरक है परमशिव का प्रगल्भ स्वातन्त्र्य। ४४ वही तत्त्वरूप में उल्लसित होता है। इस संप्रदाय में शक्ति और शक्तिमान्, स्वातन्त्र्य और परमशिव अन्ततः एक ही ठहरते हैं। इस दृष्टि से भी उपर्युक्त सिद्धान्त की सिद्धि होती है। इसलिए शिवाद्वयवाद के आचार्यों ने इन पदार्थों को परतत्त्व की शक्तियां या स्पन्द माना है। ४५

ये शक्तियां या तत्त्व परतत्त्व से दो तरह से अनुबद्ध हैं। या तो वे “समीपतर-वर्ग” के अंतर्गत आते हैं या “दूर-दूरतर वर्ग” के। यही दो वर्ग हैं। सरल शब्दों में, वे शक्तियां जो परमेश्वर से अपरोक्षतः संबंधित हैं उन्हें पहले और जो परोक्ष ढंग से संबंधित हैं उन्हें दूसरे वर्ग में रखा जाता है। परतत्त्व से पदार्थ-जगत् के सम्बन्ध की यह आपेक्षिक-धारणा है। परतत्त्व की व्याप्ति या अनुस्यूति सभी तत्त्वों में है, यह हम देख चुके हैं। यह व्याप्ति जहां अपेक्षाकृत अव्यवहित (इमीडिएट) है वे “समीपतर” तत्त्व हैं और जहां व्यवहित वे “दूरतर” तत्त्व हैं। पहले वर्ग का परतत्त्व से सम्बन्ध न्याय के अपर-सामान्य (जाति और व्यक्ति की तुलना द्वारा) समझाया गया है—जैसे घट घटत्व से संबंधित है। घटत्व और घट का निकटतम संबंध है। दूसरे वर्ग के लिए पर-सामान्य (सत्ता) और व्यक्ति के सम्बन्ध के दृष्टान्त का आश्रय लिया गया है। सत्ता का घट से संबंध दूर का और व्यवहित संबंध है। सत्ता घट से द्रव्यत्व-पृथ्वीत्व-घटत्व के माध्यम से संबंधित है। पहले वर्ग में सारी आवश्यक पूर्वावस्थाएं उसी में निहित रहती हैं जबकि दूसरे में संबंधसूत्र की पूर्ति के लिए मध्यवर्ती अवस्थाओं की अपेक्षा पड़ती है। ४६ ये दोनों वर्ग स्वयं में निरपेक्ष वर्ग नहीं हैं। उनमें भी तारतम्य है। जिस सीमा तक परतत्त्व से अव्यवहित-व्यवहित संबंधित है उसी अंश तक वह समीप या दूर है।

४४. परमशिवभट्टारकस्य स्वातन्त्र्यलक्षणा महती तत्त्वानाम् अन्योन्यप्रयोजकभावे पर्यन्ततः सामान्यप्रयोजकत्वे च प्रगल्भा—तद्रूपतया परिस्फुरति। महार्थमंजरी-परिमल, पृ. ६४-७०।

४५. सर्वाणि तत्त्वानि भगवतः शक्तिरूपाणि स्पन्द एव। ई. प्र. वि., भाग ३, पृ २६५। यहां पर एक बात और कह दी जाए तो अच्छा रहेगा, इस दर्शन में शक्ति और शक्तिमान् में अभेद माना गया है। शक्ति का स्वरूपग्रह शक्तिमान् (परतत्त्व) के स्वरूप-ग्रह में अत्यन्त सहायक है। यही बात पहले भी दूसरे प्रसंग में कही जा चुकी है कि प्रमेय या तत्त्व-बोध स्वरूपबोध का उपाय है।

४६. परमेश्वरस्य हि परमार्थतः एताः शक्तयो यस्तत्त्वग्रामः, काचित्तु शक्तिरन्यबहुतरशक्तिकोडीकारं कुर्वती निकटत्वादुपास्या घटस्येव घटात्मिका, काचिदन्यापेक्षिणी स्वरूपमात्रनिष्ठा द्वारा घटस्येव सत्तात्मिका। (विमर्शिनी) भास्करी, भाग २, पृ. २२२।

उदाहरण के लिए परशिव से शिवतत्त्व का सम्बन्ध निकटतम और पृथ्वी से दूरतम है परन्तु उसी पर-शिव से मायातत्त्व शिवतत्त्व की तुलना में दूर और पृथ्वी या प्रकृति की अपेक्षा निकट है। भास्कर ने बताया है कि तत्त्वों का परतत्त्व से यह अपेक्षा-संबंध उसकी प्राप्ति की सुकरता की दृष्टि से है। जितना निकट तत्त्व होगा मल की उतनी कमी के कारण वह परतत्त्व की प्राप्ति उतनी ही शीघ्रता से कराएगा। सत् वस्तु के अन्वेषण में घट देर से मिलता है जबकि घटत्व-युक्त वस्तु की खोज करते समय घट फौरन ही मिल जाता है। ४७

पदार्थ परतत्त्व या परमशिव के शक्ति रूप हैं—यह सिद्धान्त त्रिकदार्शनिकों ने व्याकरण-दर्शन से लिया है। व्याकरण-दर्शन में बाहरी जगत् शब्दब्रह्म की विभिन्न शक्तियों का आभास माना गया है। किसी भी विषय का विश्लेषण अनेक शक्तियों के समाहार रूप में किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, घट उन अनेक शक्तियों का समूह है जिसमें से उसकी जल-आहरण की क्षमता भी एक है। ४८ इसलिए भर्तृहरि ने काल, दिक्, क्रिया और साधन या कारक जैसे पदार्थों की कल्पना शक्तियों के रूप में ही की है। पदार्थ शक्तियों से अधिक कुछ भी नहीं हैं। ४९ त्रिक आचार्यों ने इस सिद्धान्त को प्रायः सर्वोश में ग्रहण किया है। शक्ति स्वरूपतः भेद-रहित है परन्तु व्यापार और फल-भेद से शक्ति-भेद की कल्पना होती है। और यह शक्तिभेद ही पदार्थरूप में उल्लसित होता है। जयरथ ने साफ शब्दों में पदार्थ को अनेक शक्तियों का योग माना है। ५० अन्यत्र भी यही बात दुहराई गयी है। ५१ शक्ति-विशेष की पदार्थ विशेष के रूप में कल्पना का आधार है पदार्थों का अपना नियत रूप, जिससे वे

४७. तावन्मलासादनात् सत्वरं शक्तिमत्प्रापकत्वात् वा उपासितुं योग्या। सद्गत्स्त्वन्वेषणेहि घटः चिरेण प्राप्यते घटत्वयुक्तवस्त्वन्वेषणे तु सद्य एवेति भावः। भास्कर की वृत्ति, वही।

४८. घटादयो भावा विश्वशब्दवाच्यास्ते च तत्तदुदकाहरणादिकार्यसाधिकानाम् शक्तिनाम् समूह-रूपः। अतएव ताश्शक्तयस्तत्रमात्राभागा इति शक्तिसमाहारमात्रम् घटादयः।” वाक्यपदीयम् पर हेलाराज की वृत्ति, पृ. १७४।

४९. शक्तिरूपे पदार्थानाम् अत्यन्तमनवस्थिताः। दिक्साधनं क्रियाकाल इति वस्त्वभिधायिनः॥ वाक्यपदीयम् ३-५-१; और भी नित्याष्पटशक्तयोऽन्येषाम्। वही ३-७-३५; ये दोनों उद्धरण डा. गौरी नाथ शास्त्री द्वारा “दि फिलासफी ऑव वर्ड एण्ड मीनिंग” पृ. २६-२७ पर उद्धृत। इसी ग्रंथ का पृ. ६४ भी देखिए। डा. शास्त्री का मत है कि भर्तृहरि के विवर्त और परिणाम शब्दों का अर्थ त्रिकदर्शन के आभास शब्द से अधिक भिन्न नहीं है।

५०. “यदाहुः ‘फलभेदादारोपितभेद पदार्थात्मा शक्तिः’ इति, अतएव चास्याव्यापारभेदात् भेदो येनानेकशक्तियोगी पदार्थ इत्युच्यते”,स्वतः पुनरेकैकस्याः शक्त्यभेदो न युक्तः। जयरथ की वृत्ति तंत्रालोक, भाग ६, ६२-६३।

५१. वही, भाग १, पृ. १०६-११०।

कभी च्युत नहीं होते । ५२ इस कथन से संभवतः यह भी भवनित होता है कि स्वयं पदार्थ स्वरूपतः प्रकार-वैचित्र्य से परे हैं ! पदार्थ-भेद या विविध पदार्थों की धारणा आरोपित धारणा है जिसका उद्गम व्यापार और फल-प्रक्रियागत भेद में छिपा है । ५३

यहां पर यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि शैव दार्शनिक के लिए तत्त्व, पदार्थ या प्रमेय शब्द उपाधि नहीं है (यद्यपि इसे वर्गीकरण निमित्त कहा गया है) अपितु वास्तविक सामान्य है (वस्तुतः यहां सामान्य आदि की परतत्त्व से भिन्न कोई सत्ता नहीं है और न सामान्य का कोई स्वतंत्र स्वरूप है) । यह सामान्य उस अर्थ में वास्तविक है जिस अर्थ में यह व्यवहार-जगत् या पदार्थजगत् । पदार्थजगत् की कल्पना व्यावहारिक है, उसी प्रकार यह सामान्य की धारणा भी व्यावहारिक है) जो सभी तत्त्वों और पदार्थों में व्याप्त है और उनकी पदार्थ या तत्त्व संज्ञा का कारण बनता है । इससे संभवतः यह भी निष्कर्ष निकलता है कि प्रमेय या पदार्थ मौलिक पदार्थ है और छत्तीस तत्त्व उसके अंतर्गत अवान्तर या आश्रित तत्त्वों के रूप में गृहीत होते हैं । “तत्त्व-परिभाग” या “तत्त्व-ग्राम” जैसे शब्द इसी के सूचक हैं । ५४ इस बात की पुष्टि एक अन्य आधार पर भी होती है । काश्मीर शिवाद्वैत के सभी संप्रदायों में जिन छह अध्वों (मार्गों) की गणना हुई है तत्त्व-मार्ग या तत्त्वाध्वा भी उनमें से एक है । इस तत्त्वाध्वा में ही सारे छत्तीस तत्त्वों का सन्निवेश हुआ है । इस दृष्टि से भी “तत्त्व” स्वयं में एक मौलिक पदार्थ (वैटेगोरी) है । “तत्त्व” की अध्वों में यह गिनती यह बताती है कि शैवों की परमार्थ-विचार की योजना का यह आवश्यक अंग है । भेद दशा से अभेद-भाव की प्राप्ति ही इसका लक्ष्य है और ये षट्त्रिंशत्तत्त्व मूलतत्त्व की इस योजना में अंतर्भूत और सहायक हैं । ५५

त्रिकदर्शन की तत्त्वमीमांसा पर सांख्य के पदार्थदर्शन का भी व्यापक प्रभाव पड़ा है । शिवाद्वयवाद में कारणतासिद्धान्त का पल्लवन आभासवाद में हुआ है, परन्तु पदार्थ-दर्शन में सत्कार्यवाद की प्रक्रिया स्वीकार की गई है । ५६ सत्कार्यवाद कार्य में कारण की वासनात्मक अनुवृत्ति मानता है । सत्कार्यवाद की स्वीकृति का अर्थ है सभी तत्त्वों में निखिल तत्त्वराशि की अनुस्यूति मानना । उदाहरण के लिए शिव में अपने अलावा पैंतीस तत्त्वों की संभावना

५२. “उक्तं च प्रत्यभिज्ञायाम् ‘फलभेदादारोपितभेदः पदार्थात्मा शक्तिः’ पदार्थानाम् प्रतिनियत-रूपपरित्यागे प्रत्यवाये भीरुत्वात् ।” महार्थमंजरी-परिमल, पृ. ७४ ।

५३. प्रत्यभिज्ञानबलात् एकोऽपि असौ पदार्थात्मा स्वभावभेदान्विरुद्धान् यावत् अंगीकुरुते । (विमर्शिनी) भास्करि, भाग २, पृ. ६ ।

५४. सामृद्धं चैव तत्त्वानां ग्रामशब्दे न कीर्तितम् । त. १. ८३, द्रष्टव्य टिप्पणी सं. ५३ ।

५५. जयरथ की वृत्ति, तंत्रालोक भाग ४, पृ. ३०-३१ ।

५६. “ततश्च.....पंचत्रिंशदपि तत्त्वानि कारणवासनानुवृत्तिद्वारा परिस्फुरन्ति इति अनया भङ्ग्या तत्र शिवतत्त्वे पृथिव्यादीनि सर्वाण्यपि सत्कार्यवादमर्यादया अवतिष्ठन्ते ।इति सर्वं सर्वात्मकम् इत्यर्थनिष्कर्षः स्यात् ।” महार्थमंजरी-परिमल पृ. ६८ ।

बीजरूप से निहित है। उसी प्रकार मध्यवर्ती प्रकृति पुरुष आदि में ऊपर-नीचे के सभी तत्व रहते हैं। इसीलिए सभी तत्व सर्वात्मक माने गए हैं। इसलिए त्रिक दर्शन की रहस्यात्मक धारा में पंचतत्व को दीक्षा में अनाश्रित तत्वों (शुद्ध तत्वपंचक) तक भूत-व्याप्ति मानी गयी है। ५७

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

भ्रम और मतिभ्रम

एल. पी. एन. सिन्हा

प्रो. ई. जे. फरलॉग, एरीस्टोटेलियन सोसाइटी प्रोसीडिंग्स, १९५३-४, पृ. संख्या १३२-३३) में भ्रम और मतिभ्रम में भेद करते हैं। वे यह समझते हैं कि जब द्रष्टा के सामने कोई वस्तु उपस्थित रहती है किन्तु द्रष्टा उसे असामान्य रूप में देखता है, तो यह भ्रम है। जैसे यदि द्रष्टा पानी में गाड़ी हुई सीधी छड़ी को टेढ़ी देखता है तो यह भ्रम है; क्योंकि सीधी छड़ी का अस्तित्व वास्तविक है, द्रष्टा उसे असामान्य, यानि टेढ़ा, देखता है। परन्तु यदि द्रष्टा के सामने कोई वस्तु नहीं है, फिर भी उसका स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, तो यह मतिभ्रम कहलाता है। उदाहरणार्थ: मैकवेथ के सामने छुरा नहीं है किन्तु फिर भी वह अपने सामने छुरा देखता है तो यह मतिभ्रम है, क्योंकि अस्तित्वरहित छुरा अस्तित्वयुक्त मालूम पड़ता है।

सेमुयेल अलेक्जेंडर का भी विचार भ्रम और मतिभ्रम के बारे में फरलॉग के समान ही है। "स्पेस, टाइम और डायी" (खंड २, १९२०, पृष्ठ संख्या २०६ और इसके आगे के पन्ने) में वे इन दोनों अनुभवों में भेद बतलाते हैं। उदाहरणार्थ: जब भूरे कागज का टुकड़ा हरा दिखाई पड़ता है तो यह भ्रम है, क्योंकि कागज का टुकड़ा जो सामने उपस्थित है वह भूरा है और उसका हरा रंग दृष्टिगोचर होना मस्तिष्क की देन है। लेकिन जब मैकवेथ जहां छुरा नहीं है वहां छुरा देखता है तो यह मतिभ्रम है, क्योंकि छुरा वहां उपस्थित नहीं है, यह मस्तिष्क का अपना आविष्कार है। पुनः, यदि द्रष्टा घोड़े के शरीर पर मनुष्य का सिर देखता है तो यह भ्रम है क्योंकि घोड़े का शरीर उपस्थित रहता है और इस पर मनुष्य के सिर का होना काल्पनिक है। यदि एक पागल या हतबुद्धि व्यक्ति जहां चूहा या साँप नहीं है वहां चूहा या साँप देखता है तो यह मतिभ्रम है, क्योंकि जो चीज़ उस जगह में है ही नहीं वहाँ वह उस चीज़ को देखता है। जब कोई द्रष्टा एक गोल सिक्के को दीर्घवृत्ताकार देखता है तो यह भ्रम है, क्योंकि गोल सिक्का सामने उपस्थित है जो दीर्घवृत्ताकार दिखाई पड़ता है। इसके विपरीत जब एक शराबी के सामने कोई भी गुलाबी चूहा नहीं है फिर भी वह गुलाबी चूहे को देखता है तो यह मतिभ्रम है, क्योंकि वहां पर जिस चीज़ को वह देखता है वह है नहीं।

फरलॉग एवं अलेक्जेंडर के समान जी. एफ. स्टाउट भी भ्रम और मतिभ्रम को भिन्न भिन्न समझते हैं। अपने मैनुअल (पाँचवां संस्करण सी. ए. मेस, १९३८, पृष्ठ संख्या ४४६-

४७) में स्टाउट कहते हैं कि भ्रम होने के समय सचमुच कोई चीज़ इन्द्रिय के सामने रहती है पर वह असामान्य दिखलाई पड़ती है, किन्तु मतिभ्रम में द्रष्टा के सामने कोई चीज़ नहीं रहती है फिर भी द्रष्टा उस चीज़ को देखता है। उदाहरणार्थ : जब द्रष्टा मोम के आदमी को असली आदमी समझता है, या जब द्रष्टा अंडे के खाली छिलके को भरा हुआ अंडा समझता है तो यह भ्रम है क्योंकि द्रष्टा के सामने कुछ चीज़ है पर वह उसे असामान्य रूप में देखता है। पर जब कोई पागल या रोगी अपने चारों ओर साँप हो साँप देखता है जहाँ कोई भी साँप नहीं है, या जब कोई शराबी अपने सामने चूहा देखता है जहाँ कोई चूहा नहीं है तो यह मतिभ्रम है क्योंकि न तो पागल रोगी के चारों ओर साँप हैं और न शराबी के सामने चूहा ही है।

ऊपर की बातों से साफ जाहिर है कि भ्रम एवं मतिभ्रम एक दूसरे से भिन्न हैं। इन दोनों अनुभवों में द्रष्टा भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। भ्रम का द्रष्टा कोई भी सामान्य व्यक्ति हो सकता है और भ्रम उसके मन में प्रायः इन्द्रिय के दोष के कारण ही होता है। परन्तु मतिभ्रम का द्रष्टा कोई असामान्य व्यक्ति ही होता है, जैसे, मैकवेथ या कोई पागल रोगी, या कोई शराबी इत्यादि। मतिभ्रम क्यों होता है इसके बारे में निश्चित तौर से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। चूँकि भ्रम का द्रष्टा एक सामान्य व्यक्ति होता है और मतिभ्रम का द्रष्टा एक असामान्य व्यक्ति होता है, मैं यह सिफारिश करूँगा कि भ्रम को दर्शन में रखा जाय और मतिभ्रम को दार्शनिक समस्या के रूप में छोड़ दिया जाय। आगे मैं मतिभ्रम को अलग करने का कारण दूँगा, पहले मैं भ्रम और मतिभ्रम के बीच में जो भेद है उसे बतलाने की कोशिश करूँगा।

संक्षेप में भ्रम और मतिभ्रम के बीच निम्नलिखित भेद हैं:—

भ्रम में केवल द्रष्टा ही सामान्य नहीं होता है, बल्कि भ्रम में परिस्थिति स्थिर, साधारण, सरल, पुनरावृत्ति करने योग्य एवं निश्चित होती है। पुनः भ्रमात्मक अनुभव किसी भी दूसरे द्रष्टा के द्वारा उपर्युक्त परिस्थितियों को उपस्थित कराकर स्पष्ट किये जा सकते हैं। इसमें जो चीज़ एक द्रष्टा के लिए सत्य होती है वह अन्य द्रष्टा के लिए भी सत्य ही होगी। परन्तु मतिभ्रम में द्रष्टा मैकवेथ या पागल रोगी या शराबी रहता है एवं परिस्थिति भी अस्थिर, असाधारण, कठिन आवृत्ति-अयोग्य एवं अनिश्चित होती है। अतः इस प्रकार का अनुभव पुनः द्रष्टा को नहीं हो सकता है। दूसरे शब्दों में, जो अनुभव मैकवेथ या शराबी के लिए सत्य है वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए सत्य नहीं हो सकता है।

पुनः, भ्रम में (झुकी हुई छड़ी का भ्रम आदि) स्थान एवं समय का सम्बन्ध सरल एवं सीधा, दूसरे शब्दों में सामान्य, होता है जबकि मतिभ्रम में स्थान एवं समय का सम्बन्ध कुछ स्थिति में असामान्य होता है। अतः जहाँ पर भ्रमात्मक अनुभव को सिद्ध करना आसान है वहाँ मतिभ्रमात्मक अनुभव को प्रमाणित करना कठिन है।

ऊपर के प्रकरणों से हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भ्रम का अस्तित्व स्थायी है जबकि मतिभ्रम चञ्चल एवं अस्थिर है।

ऐसी हालत में हमारे सामने इसके सिवा कोई दूसरा उपाय नहीं कि हम

मतिभ्रम को बरखास्त कर दें। शायद हम मतिभ्रम से सम्बन्धित लेखक के विचारों को मान लेते और मतिभ्रम को स्थापित ख्याति के रूप में स्वीकार कर लेते, लेकिन इसमें कठिनाई यह है कि जब पागल रोगी या शराबी या मैकवेथ कुछ चीज़ देखता है तो उसके बारे में लेखक यह कैसे कहता है कि वह चीज़ ही वहाँ पर नहीं है? इसका मतलब तो यह होता है कि लेखक जानता है कि सत्य क्या है, लेकिन स्वयं देखने वाला मतिभ्रम या धोखे में है। लेखक एवं द्रष्टा दोनों विल्कुल दो हैं फिर भी लेखक क्यों जोर देता है कि वह जानता है कि द्रष्टा धोखे में है, या एक पागल रोगी कहता है कि वह एक साँप देखता है, या एक शराबी कहता है कि वह एक गुलाबी चूड़ा देखता है तो कौन कह सकता है कि वे उन “चीज़ों” को नहीं देख रहे हैं? अगर कोई कहता है कि जो वस्तुएँ इन लोगों द्वारा देखी गयी हैं सत्य नहीं हैं, इसका अर्थ है कि वह मैकवेथ, या पागल रोगी, या शराबी के लिए देख रहा है, जोकि ठीक नहीं है; प्रत्येक द्रष्टा अपने ही लिए देखता है अतः केवल वही अपना प्रमाण हो सकता है। अतः यदि मैकवेथ या शराबी या पागल रोगी स्वयं अपने लिए नहीं देखता है तो अन्य कोई भी उनकी सहायता नहीं कर सकता।

पुनः, मतिभ्रम का यदि मैकवेथ का छुप, शराबी का चूड़ा, पागल रोगी का साँप आदि उदाहरणों के द्वारा विश्लेषण किया जाय तो हम मतिभ्रम में न तो विश्वास ही कर सकते हैं और न अविश्वास ही, क्योंकि हम इनके अनुभव की जाँच नहीं कर सकते हैं। और यदि बिना जाँच किये हम इन लोगों के अनुभव में विश्वास करते हैं तो इसका अर्थ है कि हम उपर्युक्त लेखक के मतिभ्रम सिद्धान्त को अस्वीकार या कम से कम कमज़ोर तो अवश्य ही साबित करते हैं, क्योंकि जब मतिभ्रम द्रष्टा कहता है कि भौतिक वस्तु उपस्थित है लेखक कहता है कि मतिभ्रम में भौतिक वस्तु उपस्थित नहीं रहती है फिर भी यह दृष्टिगोचर होती है। अतएव यदि हम इन लोगों के अनुभव में अविश्वास करते हैं उस अवस्था में लेखक का मतिभ्रम सिद्धान्त निरर्थक हो जाता है; और प्रमाण इसके लिए भी कोई नहीं है। अतः मतिभ्रम को बरखास्त ही कर देना चाहिए।

प्रोफेसर एच. एच. प्राइस अपनी परसेप्शन (१९५०, पृष्ठ संख्या २८-६) में मतिभ्रम की जाँच करते हैं, पर वे भी इसे बरखास्त कर देना ही उचित समझते हैं। उनका कहना है कि मतिभ्रम किसी भौतिक वस्तु से सम्बन्ध विल्कुल ही नहीं रखता है। यह निरर्थक इन्द्रिय-गृहीत विषय (sense-data) से निर्मित होता है। प्राइस के अनुसार मतिभ्रम आंशिक (Partial) एवं सम्पूर्ण (total) हो सकता है। आंशिक मतिभ्रम के बारे में प्राइस कहते हैं कि इसमें देखने का क्षेत्र (part of the field of view) आधा निरर्थक होता है और आधा नहीं। उदाहरणार्थ: जब हम बस नं. ३ के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं उसी समय यदि बस नं. ८ आती हुई दिखाई देती है तो हम उस बस नं. ८ को बस नं. ३ समझ लेते हैं; या लकड़ी का बूँदा गाय की तरह दिखाई देता है, या एक ग्वाला साइकिल पर दूध का मटका एक हाथ में लाते हुए ऐसा दिखाई पड़ता है जैसे कोई पैदल चलने वाला बकरी लाता हो। ये गलतियाँ, जिनके द्वारा प्राइस आंशिक मतिभ्रम का विश्लेषण करते हैं, सर्वसाधारण गलतियों

के समान है। उदाहरणार्थ: एक छापने वाला 'निर्माण' को 'निर्वाण' पढ़ लेता है। अतः प्राइस का आंशिक मतिभ्रम हम लोगों के भ्रम के ही ऐसा कोई खास कठिनाई उत्पन्न नहीं करता है। अतः इसे बरखास्त करने की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि इस आंशिक मतिभ्रम में देखने का क्षेत्र पूर्णतः निरर्थक नहीं रहता है।

वास्तविक कठिनाई सम्पूर्ण मतिभ्रम में उत्पन्न होती है जहाँ देखने का क्षेत्र पूर्णतः निरर्थक होता है। इस प्रकार का मतिभ्रम, प्राइस के अनुसार, पागल या चेतनाहीन व्यक्ति को ही होता है, यहाँ इन्द्रिय-गृहीत विषय (sense-data) केवल भौतिक वस्तु से अलग ही नहीं रहता है बल्कि इससे बिल्कुल सम्बन्ध ही नहीं रखता है (पर्सन, १९५०, पृ. ६३)। सम्पूर्ण मतिभ्रम देखने का क्षेत्र अंशतः खराब नहीं रहता बल्कि पूर्ण खराब रहता है (Ibid, १०८)। प्राइस के शब्दों में "It is a hollow which is hollowed out of nothing." अतः यहाँ प्रतात होता है कि सम्पूर्ण मतिभ्रम वैज्ञानिक अध्ययन का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वप्रथम द्रष्टा या तो पागल है अथवा चेतनाहीन, एवं द्वितीयतः मतिभ्रम में स्थिति पुनरावृत्ति करने योग्य नहीं रहती एवं अस्थिर होती है एवं इसकी सामान्य अवस्था अप्राप्य है। अतः सम्पूर्ण मतिभ्रम, प्राइस के अनुसार, या दृष्टि मतिभ्रम (visual hallucination), जैसा कि कुछ लोग कहते हैं, अस्वीकृत करने योग्य है।

संक्षेप में, भ्रम में (झुकी छड़ी का भ्रम या और कोई दूसरा भ्रम) द्रष्टा स्वयं गलती करता है पर उसका सुधार भी वह स्वयं ही या तो अपने अनुभव के आधार पर अथवा दूसरे के अनुभव के आधार पर कर लेता है। लेकिन मतिभ्रम में द्रष्टा (मैकबेथ या शराबी या पागल रोगी या इसी प्रकार का व्यक्ति) कोई निश्चित वस्तु नहीं देखता है, वह गलती करता है पर उसको सुधारने का रास्ता नहीं जानता है। अतः भ्रम में स्थिति सामान्य, स्थिर एवं वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उपयुक्त है, जबकि मतिभ्रम में स्थिति असामान्य, अस्थिर एवं वैज्ञानिक अध्ययन करने के उपयुक्त नहीं रहती है। अतः भ्रम को एक ख्याति के रूप में मान लेना उचित है किन्तु मतिभ्रम को ख्याति के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

पटना विश्वविद्यालय, पटना।

कुरान में मायावाद

डा. इशरत हसन अनवर

वेदों के अनादि तथा अनन्त होने के प्रश्न को यहां न उठाते हुए मैं अपने विषय-प्रवेश के रूप में इतना कहना ही पर्याप्त समझता हूँ कि देश तथा देशान्तरों में यह बात अब ऐतिहासिक रूप से स्वीकार हो चुकी है कि उपनिषद् प्रायः १००० ई. पू. तथा ३०० ई. पू. के बीच लिखे गये।^१ यदि ऐसा है, तो यह विचारणीय प्रश्न है कि विश्व के दो मुख्य धर्मों, अर्थात् ईसाई धर्म तथा इस्लाम के विशेष सिद्धान्तों तथा उपनिषदों की मुख्य विचार-शैली में क्या सम्बन्ध है। डा. राधाकृष्णन् ने अपनी पुस्तक “दि हार्ट ऑफ हिन्दुस्तान” तथा “रिलीजन: ईस्ट एण्ड वेस्ट” में केवल नोट के ढङ्ग में यत्रतत्र, समन्वयात्मक दृष्टि से काम लेते हुए इस, प्रसंग पर थोड़ा लिखा है, जो आधुनिक काल के दार्शनिकों के लिये मार्ग-प्रदर्शक हो सकता है।

देश की वर्तमान समस्याओं को देखते हुए इस धर्म समन्वयात्मक कार्य को पृथक् रूप से किसी केन्द्रीय संस्था को उठाना चाहिए। इस आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए यहाँ संक्षेप में उपनिषदों तथा कुरान के एक सामान्य मुख्य सिद्धान्त अर्थात् मायावाद के सम्बन्ध में कुछ लिखा जा रहा है।

हमारा अपना विचार कुछ ऐसा है कि उपनिषद् विश्व के वे मूल ग्रंथ हैं जिनके समस्त उत्तरकालीन सब धार्मिक ग्रन्थ उनकी टीका के समान हैं। अतः जो श्रेष्ठ अनुभव तथा पारमार्थिक ज्ञान उपनिषदों में उपलब्ध है वही अलौकिक अनुभव कुरान में भी देश, काल तथा शब्द उपाधि भेद से विद्यमान हैं।

वेदों, पुराणों, उपनिषदों तथा स्मृतियों में मायावाद का वर्णन मिलता है। वेद में ‘इन्दो मायाभिः पुरुरूप ईयते’, उपनिषदों में “मायां तु प्रकृतिं विद्यात्”, गीता में “यन्त्रा-रुद्धानि मायया” इत्यादि स्थलों पर माया शब्द का प्रयोग व विवेचन हुआ है। श्री शंकराचार्य ने ‘ब्रह्मसूत्र’ के अपने भाष्य में मायावाद की विस्तृत विवेचना की है। संक्षेप में, मायावाद का अर्थ है—दृश्यमान जगत् की वस्तुतः सत्ता नहीं है। यह परमसत्ता का आभास

१. राधाकृष्णन्; इण्डियन फिलोसोफी भाग-२, पृष्ठ १४२।

२. हम यहाँ केवल उन्हीं उपनिषदों की ओर संकेत कर रहे हैं जिनपर शांकरभाष्य प्राप्त है। अन्य उपनिषदों को लेने से कार्य बहुत फैल जाएगा।

मात्र है। जैसे अँधेरे में पढ़ी रस्सी सर्प लगती है वैसे ही पारमार्थिक सत्ता अज्ञानवश हमें जगत् प्रपंच के रूप में दिखाई पड़ती है।

हम यहां तर्क-वितर्क तथा वाद-विवाद के चक्करों में न पड़ते हुए कुरान के उन विचारों का उल्लेख करते हैं जिनसे स्पष्ट रूप से मायावाद की पुष्टि होती है। यह बात पहले ही लिख देना जरूरी है कि कुरान में देश तथा काल और भाषा के भेद के कारण मायावाद के यद्यपि कुछ मुख्य भाग स्वतः सिद्ध रूप से प्राप्त नज़र आएँगे तथापि सम्भवतः कुछ ऐसे अन्य दृष्टिकोण भी हो सकते हैं जो सामान्यतः अभावरूप से प्राप्त हों, परन्तु इस लेख में हमें उनसे कोई सरोकार नहीं है। कोई अन्य दार्शनिक उनकी खोज करें।

हम तो यहां उन ही विचारधाराओं का संक्षेपतः वर्णन करेंगे जिनसे मायावाद की पुष्टि नज़र आती है।

कुरान कहता है—जो कुछ है वह क्षणिक है, और जो वास्तविक रूप से सिद्ध है वह अल्लाह है—कुल्लो मन अलैहा फ़ानि'व व दब्का वज्हो रब्विका जुल जलाले वल इक्राम^४, अर्थात् जो कुछ है अनित्य है, यदि कोई चीज़ सत् है तो अल्लाह^५ का मुख ही है, अर्थात् अल्लाह ही है। उसके अतिरिक्त (यदि कुछ है तो) “फ़ानी”—अनित्य, तथा असत् है। यहाँ यह बात विचारणीय है कि कुरान के इसी सूत्र (आयत) के अगले भाग में तुरन्त ही इस विचार को भी स्पष्ट किया गया है कि नित्य तथा सत्य तो अल्लाह ही है। अल्लाह ही का मुख है जो ऐश्वर्य तथा सहानुभूति से सम्पन्न है।

- अब इन दोनों पदों को मिलाकर पढ़िये और दोनों के अर्थ का तदनुसार विवेचन कीजिए—
- १) अल्लाह के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुएँ अनित्य होने के कारण असत्य हैं। यह अन्त में नष्ट हो जायेंगी।
 - २) अल्लाह ही अनादि—अनन्त है। वही अन्त में शेष रह जाएगा।
- इन दोनों प्रतिज्ञाओं से यह निश्चय होता है कि अल्लाह ही आरम्भ में था, तथा

३. इसी कारण कुरान के विचारों को अन्य लोगों ने अन्य रूप में समझा है—द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत। द्वैत के मानने वाले सामान्यतः वे सभी लोग हैं जो कर्मकाण्ड को विशेषतः महत्वपूर्ण समझते हैं।

परन्तु जब यह प्रश्न उठाया जाता है कि अन्य कर्म, उदाहरणार्थः नमाज़, रोज़ा इत्यादि का आदर्श क्या है और उनको करने से प्राप्त क्या होता है तो हमें दो उत्तर मिलते हैं, एक यह कि उनसे खुदा प्रसन्न होता है, दूसरा यह कि आत्म-संशुद्धि प्राप्त होती है। पहला उत्तर द्वैत की पूर्ण में सहायक है, दूसरा उत्तर अद्वैत की ओर ले जाता है।

४. हम इस लेख में यह प्रश्न नहीं उठा रहे हैं कि अल्लाह को ब्रह्म का स्थान दिया जाए अथवा ब्रह्मा का, यह प्रश्न किसी अगले लेख का विषय बनेगा।

४. कुरान २७-२७, १-३।

अल्लाह ही अंत में रह जाएगा। यही बात एक और प्रसङ्ग में कुरान में स्पष्ट रूप से इस प्रकार कही गई है :

“हुवल अब्वलो वल आखिरो वज्जाहिरो वल बातिन”^६ अर्थात् वही आरम्भ में तथा वही अन्त में है। वही दृष्ट तथा अदृष्ट है, इस प्रकार वही अनादि-अनन्त हुआ; और जो कुछ नज़र आता है, अथवा नज़र नहीं आता है, वह वही है। इससे यह स्वयमेव सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण जगत्, जिसको सूत्र के पहले भाग में अनित्य कहा गया है, अल्लाह ही पर, जोकि अविनाशी है, आरोपित है। इसी कारण इसका निषेध इसी प्रकार हो जाएगा कि मानो यह कभी या ही नहीं, और अल्लाह ही रह जाएगा।

अब आरम्भ में भी अल्लाह ही था और कुछ न था। यदि यह कहा जाए कि अल्लाह के अतिरिक्त कोई और वस्तु अथवा कोई और पदार्थ था, तो इसका अर्थ यह होगा कि अल्लाह के अस्तित्व के साथ साथ कोई अन्य सत्ता भी थी, और ऐसा होना असम्भव है, क्योंकि फिर द्वैत हो जाएगा और अल्लाह का अनादि, सर्वकर्ता, सर्वनियन्ता, सर्वशक्तिशाली रूप नहीं ठहरेगा। कुरान में सृष्टि का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि अल्लाह वह है जिसने अनेकानेक आसमानों तथा धरती की उचित प्रकार से रचना की है। जिस दिन वह किसी वस्तु की सृष्टि करना चाहता है तो कहता है कि “होजा” (कुन), और यह “हो जाती है” (फयकून)। उसका शब्द वस्तुतः वास्तविक है।^६ और जिस दिन सूर फूँका जाएगा, अर्थात् प्रलय होगी, उस दिन उसी की बादशाहत होगी ^७

अब यदि आरम्भ में वही था और अन्य कुछ न था तो सम्पूर्ण प्रपञ्च कहाँ से आ गया ? इसका उत्तर एक ही है, अर्थात् यह सब सृष्टि दृष्टिमात्र है। वास्तव में कोई वास्तविक रचना हुई ही नहीं है। वह जैसे सृष्टि से पहले था उसी प्रकार अब भी है। इसी विचार की पुष्टि इब्नि अरबी ने अपने शब्दों में इस प्रकार की है—“मा काना कमा काना” अर्थात् वह जिस प्रकार था (सृष्टि से पूर्व) उसी प्रकार है (सृष्टि के पश्चात् भी)। यह वही विचार है जिसका उल्लेख गौडपाद ने “माण्डूक्य कारिका” में इस प्रकार किया है :

न विरोधो न चोत्पत्तिर्निबन्धो न च साधकः ।

न मुमुक्षुर्न वैमुक्तः इत्येषा परमार्थता ॥

अर्थात् पारमार्थिक दृष्टि से न कोई निरोध है, न उत्पत्ति, न कोई बन्धन में है, न कोई साधक; न कोई मोक्ष की इच्छा रखने वाला है, और न कोई मुक्त ही हुआ है। यही बात प्रो. बी. एल. आग्नेय ने “योग वासिष्ठ” में भी दिखाई है। योग वासिष्ठ में कहा गया है :

“वस्तुतस्तु न बन्धोस्ति न मोक्षोऽस्ति महामते ।

६. कुरान : ७-६-७४ ।

७. तत्प्रकारेण ।

८. गौडपादकारिका, द्वितीय प्रकरणम्, कारिका ३२ ।

९. योगवासिष्ठ III, १०१ ।

ऐसी अवस्था में प्रश्न उठता है कि त्रिगुणात्मक जगत् की क्या स्थिति है ? उत्तर बिल्कुल स्पष्ट है: यह केवल व्यावहारिक सत्ता मात्र है; उसकी पारमार्थिक सत्ता किञ्चित् नहीं है। हाँ, दृष्ट ज़रूर है और इस दृष्टि से व्यवहार में आने के कारण यह भावरूप भी अवश्य है, तथापि पारमार्थिक दृष्टि के अनुसार यह सब प्रपञ्च है, अर्थात्, यह है ही नहीं। अतः इसे “माया” कहना ही उचित है (मा=नहीं; या=जो)।

कुरान भी माया के मुख्य भाव को संकेत करने के लिए कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जिनमें यदि एक ओर सांसारिक व्यवहार को स्वीकार किया गया है तो दूसरी ओर उसकी पारमार्थिक सत्ता का निषेध भी कर दिया गया है। कुरान कहता है:— व मल हयातुदन्या इल्ला लएबुव्व लहव, अर्थात् यह सांसारिक जीवन तो एक ऐसा खेल है जिसका कोई महत्व ही नहीं। “लअब” वह खेल है जिसमें कुछ नियमों का पालन किया जाता है; “लहव” वह खेल है जो बहुत छोटे बच्चे स्वेच्छापूर्वक बना लेते हैं। इसे “लीला” के शब्द से भी संकेत कर सकते हैं। कई हिन्दू दर्शनों में सृष्टि को ईश्वर की लीला मात्र कहा गया है।

मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलोगढ़।

आत्मतत्त्वविवेक का वाक्यार्थ

भंगवाद प्रकरण

वर्ष ७, अंक ३ से आगे

पिछले लेख में बौद्ध दार्शनिक ज्ञानश्री के द्वारा प्रस्तुत इस समाधान की चर्चा चल रही थी कि ज्ञान और उसमें प्रतीत होने वाले अन्यान्य विषयों के कई वस्तुओं का एक ही ज्ञान जिसे 'समूहालंबन ज्ञान' कहते हैं—अनुभवसिद्ध है। बौद्धों के द्वारा एक मान लिये जाने के कारण जो आपत्ति उपस्थित हुई थी उसका निराकरण ज्ञान विषयों को अन्य व्यावृत्ति रूप समझ कर किया जा सकता है। मतलब यह है कि नील, पीत इत्यादि विषय स्वयं ज्ञान के आकार के रूप में भले ही एक हों, अनील, अपीत आदि विषय तो अनेक ही होते हैं; अतः इनकी व्यावर्तकता (Exclusion) में तो, जो नील, पीत आदि में है, पारस्परिक भेद होगा ही। इस भेद के आधार पर ज्ञान-गत विषय-भेद का समर्थन करने में विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिये। अर्थात् ज्ञान के आकार के रूप में विषय भले ही एक ही हों किन्तु अपने अपने अन्तर्गत अन्य व्यावृत्ति रूप स्वभाव के रूप में वे परस्पर भिन्न माने जा सकते हैं; और यही भेद विषय-भेद-प्रतीति का आधार समझा जा सकता है। इस समाधान पर आपत्ति यह उठती है कि विषयगत जो अन्य व्यावृत्त्यात्मक अनेक धर्म हैं वे ज्ञानगम्य हों तो ही ज्ञान-विषयों के वे भेदक हो सकते हैं। उदाहरणतः मनुष्य और पेड़ इनमें परस्पर भेदक बहुत से गुण-धर्म हैं, किन्तु दूर से देखने पर मनुष्य के भेदक गुण धर्म यदि दिखलाई नहीं पड़े तो इनके होते हुए भी मनुष्य पेड़ के रूप में दिखलायी पड़ सकता है। इसी प्रकार व्यावर्तक स्वभाव का विषय वस्तु में विद्यमान होना ही पर्याप्त नहीं है उसका जाना जाना भी ज्ञान विषयों के व्यावर्तन के लिये अपेक्षित है। यदि विषयों के साथ उनके अन्य व्यावृत्ति रूप स्वभाव को भी एतदर्थ ज्ञानविषय मान लिया जाये तो दूसरी आपत्ति यह उपस्थित होती है कि बौद्ध मत में ज्ञान और उसका विषय एक दूसरे से अलग नहीं बने रह सकते, अतः विषयगत अन्य व्यावृत्तियों को विषयों के समान भी ज्ञान रूप ही मानना होगा। ऐसा उन्हें मान लेने पर ज्ञान-विषयों के भेद का प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाता है। विषय ज्ञान स्वरूप होने के कारण जैसे परस्पर भिन्न नहीं माने जा सकते वैसे ही उनकी व्यावृत्तियाँ भी ज्ञान स्वरूप होने के कारण (क्योंकि उन्हें भी ज्ञान विषय मानना पड़ता है) न परस्पर भिन्न हो सकती हैं और न विषय भेदक

ही। और उन्हें पूर्णतया एकरूप समझ लिया जाय तो उनकी सहायता से अनेकता के भ्रम का ही (यदि अनेकता को केवल काल्पनिक मान लें तो भी) कैसे समर्थन संभव है? इसपर भी एक प्रतिवाद संभव है, वह यह कि किसी वस्तु का ज्ञानविषय होना, या उस वस्तु की ज्ञान विषयता, यह कोई वास्तविक बात नहीं, वह तो केवल एक काल्पनिक धर्म है (क्योंकि ज्ञान और विषय इनका भेद ही वस्तुतः विज्ञानवादी नहीं मानता)। अतः काल्पनिक विषय-विषयिभाव के आधार पर काल्पनिक विषयानेकत्व का व्यवहार ही उपयुक्त मानना चाहिये।

किन्तु यह प्रतिवाद भी ठीक नहीं है। उक्त काल्पनिक एकत्व भी ज्ञान स्वरूप है या उससे भिन्न यह प्रश्न अब उपस्थित होता है। यदि उसे ज्ञान स्वरूप समझा जाये तो एक रूप ज्ञान को—वह काल्पनिक ही क्यों न हो—अनेकता के साथ अभिन्न मानने की नौबत आ पड़ती है। क्या ऐसी परस्पर विसंगत बात एक पागल के सिवा कोई बोल सकता है? काल्पनिक अनेकत्व विज्ञानगत एकत्व से भिन्न ही मान लें तो नैयायिक को कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान और उसके विषयों को परस्पर भिन्न ही समझता है। किन्तु बौद्ध यह बात स्वीकार नहीं कर सकता। इस पर यह कहना भी उचित नहीं कि नील, पीतादि विभिन्न वस्तुविषयक ज्ञान का अनुभव भ्रमात्मक ही है, अर्थात् विषयों में भेद न होते हुए भी इस ज्ञान में काल्पनिक भेद ही प्रतीत होता है। भ्रम भी एक ज्ञान ही है, और इस ज्ञान में जो अनेकत्व प्रतीत होता है वह इस ज्ञान से भिन्न हो तो वह उसका विषय नहीं हो पायेगा और यदि वह ज्ञान स्वरूप ही हो तो एक वस्तु को अनेकरूप मानने की आपत्ति वैसी ही बनी रहेगी। और एकरूपता तथा अनेकरूपता इनसे भिन्न कोई पक्ष नहीं है जिसका पुरस्कार किया जाये।

इसपर बौद्धों, विशेषकर धर्मकीर्ति, की ओर से एक प्रत्युत्तर संभव है। वह यह है कि जिस प्रकार भ्रान्ति के स्थल में असत् वस्तु भी सत् के रूप में प्रतीत होती हुई भी वस्तुतः 'सत्' नहीं होती (उदाहरणतः चाँदी जैसा दिखाई पड़ने वाला सीप चाँदी नहीं बन जाता) वैसे ही एकरूप और एकमात्र ऐसा विज्ञान अनेक विषयों के रूप से प्रतीत होकर भी वस्तुतः अनेक नहीं बन जाता। अनेकरूपता के आभास के बावजूद भी विज्ञान की मौलिक एकता बनी ही रहती है। यह अनेकरूपता विज्ञान में विशेषण या प्रकार बन कर (सीप में चाँदी के समान) प्रतिभासित होती है। इसके कारण विषय की ज्ञान-ग्राह्यता या विषयता में कोई फर्क पड़ने की आशंका उचित नहीं है। ग्राह्य का मतलब है ज्ञानगम्य या ज्ञानविशेष्य; और विज्ञान-वाद के अनुसार ज्ञान से भिन्न कोई वस्तु ज्ञानगम्य या उसका विशेष्य यद्यपि नहीं बन सकती तथापि ज्ञान में विशेषण के रूप में असत् ऐसे अनेकत्व या भिन्नता का प्रतिभास सहज ही हो सकता है। मतलब यह है कि सब वस्तुएं ज्ञानान्तर्गत अतएव ज्ञान रूप होकर ही ज्ञान का विषय होती हैं, किन्तु ज्ञान स्वयं, अविद्यमान और अलीक ऐसे भेदों को लिये हुए प्रतिभासित होता है।

यह प्रत्युत्तर पहले के समान ही अप्रतिष्ठित है। ज्ञान में जो अविद्यमान अनेकरूपता विशेषण के तौर पर प्रतिभासित होती है इसे ज्ञान से भिन्न मान नहीं सकते। एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न वस्तुओं में से एक दूसरे पर विशेषण के रूप में प्रतीत नहीं हो सकती। यदि

ऐसा होने लगे तो कोई भी वस्तु कहीं भी विशेषण के रूप में दिखलाई पड़ने लगेगी। कम से कम विज्ञानवादी को तो ज्ञानगत विशेषणों को ज्ञान से अभिन्न मानना अनिवार्यतया आवश्यक है। अन्यथा अनेकरूपता ज्ञान में होते हुए भी प्रतिभासित नहीं होती, ऐसा कहने के लिये वह बाध्य हो जायगा। इस पर बौद्ध यह प्रतिप्रश्न कर सकता है कि जिस प्रकार ज्ञान-भिन्न ऐसी किसी वस्तु को ज्ञान का विशेषण मानना युक्तिसंगत नहीं होता उसी प्रकार ज्ञान से भिन्न समझे जाने वाले विषयों को ज्ञान का विशेष्य, याने ज्ञानगम्य, मानना कैसे युक्तिसंगत होगा? नैयायिक इसपर कहेगा कि उसके मत में ज्ञान और विषय इनका ग्राह्य-ग्राहक भाव इन दोनों के भेद पर ही आधारित है। लेकिन कोई भी वस्तु किसी भी ज्ञान का विषय क्यों नहीं होती इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए ज्ञान-विषयता निर्धारक ऐसी जो बातें हैं उनका नैयायिक स्पष्टीकरण करेगा ही। किन्तु बौद्ध के लिए ऐसा कोई रास्ता खुला नहीं है, क्योंकि ज्ञान के विशेष्य या गम्य होने के लिए वस्तुओं का ज्ञान से अभिन्न होना आवश्यक मानते हुए भी ज्ञान के विशेषणों को उससे भिन्न समझने में उसे कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती। विशेष्य और विशेषण इन दोनों को या तो ज्ञान से भिन्न ही समझना चाहिये या अभिन्न ही। एक को भिन्न और दूसरे को अभिन्न मानने में कोई तुक नहीं है। लेकिन दोनों तरह ज्ञान और विषय का भेद प्रस्थापित हुए बिना नहीं रहता।

ज्ञान-भिन्न वस्तुओं को ज्ञान-गम्य मानने में वास्तव में कोई आपत्ति होनी ही नहीं चाहिये। बौद्ध पंडित ज्ञानश्री ने इस पर यह आपत्ति उठायी है कि यदि ज्ञान और उसके विषय इनको परस्पर भिन्न माना जाये तो इनके गम्य-गमक भाव की किसी प्रकार उपपत्ति देना कठिन हो जाता है। ज्ञान में ज्ञेय विषय किसी प्रक्रिया या परिवर्तन को उत्पन्न करता है या ज्ञेय में ज्ञान किसी प्रक्रिया या परिवर्तन को परिचालित करता है और यही इन दोनों के गम्य-गमक भाव का स्वरूप है, ऐसा इस सम्बन्ध में कहना उचित नहीं है। पहला पक्ष स्वीकार करने का मतलब यह होगा कि पहले ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और बाद में विषय उसमें कोई न कोई परिवर्तन लाता है। इस कल्पना में कठिनाई यह है कि विषय की प्रक्रिया के पहले उत्पन्न हुआ ज्ञान इस विषय का ज्ञान है, ऐसा किसी प्रकार नहीं समझा जा सकता। किसी तरह इस ज्ञान का पता लगाये जाने पर भी इसमें विषय के द्वारा लाया गया कोई परिवर्तन नहीं दिखलाया जा सकता। यदि एतदर्थ ज्ञान का उत्पादक होने के ही नाते विषय उसका विषय माना जाय (बिना विषय-वस्तु के उसका ज्ञान उत्पन्न नहीं होता) तो आँख के बिना वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिये आँख को प्रत्यक्ष का विषय मानने की नौबत आ पड़ेगी। इसके विपरीत दूसरा पक्ष स्वीकार कर विषय में ज्ञान के द्वारा ज्ञातता जैसे किसी व्यापार की निर्मिति मानी जाय (मोमांसक यह कहते हैं कि ज्ञान भी एक प्रक्रिया है जो अपने विषय को उसके पूर्वतन अज्ञात रूप से ज्ञात रूप में रूपान्तरित करता है जिसके कारण वस्तु में एक परिचितता की प्रतीति (Familiar look पैदा होती है।) तो वर्तमानकालिक विषयों में परिवर्तन भले ही संभव हो किन्तु अतीत और भावी विषयों में इस प्रकार के परिवर्तन की संभावना नहीं हो सकती। जो विद्यमान है उसी को ज्ञान बदल सकता है, किन्तु जो है ही नहीं उसे ज्ञान क्या

कर सकता है ? अतः ज्ञान-ज्ञेय का विषय-विषयिभाव इन दोनों के बीच में घटित होने वाली किसी प्रक्रिया का परिणाम मानना उचित नहीं होता ।

इस पर नैयायिक एक दूसरा समाधान दे सकता है । वह यह है कि ज्ञान और ज्ञेय परस्पर भिन्न होते हुए भी ज्ञान ज्ञान होने के नाते और विषय विषय होने के नाते ही एक दूसरे के साथ संबद्ध हैं, याने इन दोनों का सम्बन्ध जातीय है । ज्ञान का स्वभाव ही जानना है और वस्तु का स्वभाव ही जाना जाना है । अतः इन दोनों के सम्बन्ध की उपपत्ति के लिए किसी आकस्मिक व्यापार की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं । किन्तु इस समाधान में दोष यह है कि केवल जातीय संबंध के आधार पर भिन्न भिन्न विषयों का और उनके भिन्न भिन्न ज्ञानों का निश्चय संबंध प्रस्थापित नहीं किया जा सकता । अ का ज्ञान जैसे ज्ञान है वैसे ही ब का ज्ञान भी ज्ञान ही है । तब अ का ज्ञान अ ही का क्यों माना जाय, उसे ब का या अन्य किसी का क्यों न माना जाय ? इस कठिनाई के निवारण के लिए हरेक ज्ञान और उसके विषय का वैयक्तिक ही संबंध स्वीकार किया जा सकता है । लेकिन इस प्रकार की वैयक्तिकता उक्त सम्बन्ध में कहीं दिखलाई नहीं पड़ती । इसके अतिरिक्त, अनेक वस्तु विषयक एक ज्ञान में (जिसे 'समूहालंबन' कहा जाता है) अनेक विषय-व्यक्तियों के साथ एक ही ज्ञान-व्यक्ति का एक दूसरे प्रकार का सम्बन्ध भी मानना होगा । जितने समूहालंबन ज्ञान होंगे उतने ही ज्ञान और उनके विषयों के अवैयक्तिक ऐसे सम्बन्ध भी मानने पड़ेंगे । किन्तु यह सब मानकर भी ज्ञान और विषय इनके प्रतिनियतत्व की उपपत्ति अधूरी ही रह जाती है । ऐसी बात गोत्व, अश्वत्व आदि नैसर्गिक जातियों और उनकी आधारभूत वस्तुओं के बीच नहीं पायी जाती । गोत्व गाय में ही और अश्वत्व घोड़े में ही विद्यमान रहता है ।

उपर्युक्त आक्षेप पर यह प्रत्याक्षेप नैयायिक करेगा कि ज्ञान और विषय इन दोनों को एक मानने पर भी इनके संबंध की ठीक उपपत्ति नहीं बन पाती । कारण यह है कि यदि ये दोनों अभिन्न हैं और वास्तव में ज्ञान अपना ही ग्रहण करता है तो ग्रहण करने वाला ज्ञान और ग्रहीत ज्ञान इन दोनों के बीच में किसी प्रक्रिया को घटित होना होगा । किन्तु ज्ञान अपने में ही कौनसा परिवर्तन ला सकता है ? एतदर्थ ज्ञेय ज्ञान और ग्राहक ज्ञान इनका संबंध जातीय भी नहीं कहा जा सकता । पहले ही के समान कोई भी ज्ञान किसी भी विषय का (जो ज्ञान से अभिन्न ही है) अब ग्राहक बन जायगा । और एक व्यक्ति स्वभावतः अपना ही आकलन करता है या अपने ही लिये है इस कथन का कोई अर्थ निकालना भी कठिन है । सभी विज्ञान स्वभावतः ही स्वविषयक होते हैं, ऐसा इसका अर्थ किया जाय तो 'स्व' शब्द से किसी एक विज्ञान-व्यक्ति का उल्लेख अभीष्ट है या सभी विज्ञानों का, यह बतलाना होगा । कोई एक विज्ञान-व्यक्ति 'स्व' का अर्थ नहीं हो सकती । क्योंकि तब सभी विज्ञानों का समान रूप से एक ही विषय होगा । सभी विज्ञानों का 'स्व' से उल्लेख किया जाय तो कोई भी विज्ञान किसी भी विषय का ग्राहक मानने की नौबत आ पड़ेगी और तब सभी लोग सर्वज्ञ बन जायेंगे ।

यही कहा जा सकता है कि विज्ञान जैसे अपने से भिन्न विषयों का आकलन नहीं कर सकता वैसे ही अपना भी वह आकलन नहीं करता; विज्ञान की ग्राहक स्वभावता का

मतलब इतना ही है कि जड़ वस्तुओं से भिन्न रूप में वह उत्पन्न होता है। इसके कथन में आपत्ति यह है कि जो विज्ञान स्वयं प्रकाशमय है वह अपने आत्मीय विषय का जैसे प्रकाशक होता है वैसे ही उसे अपने से भिन्न विषयों का प्रकाशक भी मानना पड़ेगा। क्योंकि विज्ञान की प्रकाशकता स्वाभाविक है अतः उसमें स्व-पर भाव की कल्पना ही नहीं की जा सकती। कोई भी प्रकाश अपने प्रकाशन के कार्य में किसी वस्तु विशेष का पक्षपात करते नहीं देखा गया है। विज्ञानरूप प्रकाश के संबंध में तो ऐसे पक्षपात की संभावना ही अनुचित है। यदि कहा जाय कि विज्ञान का यह स्वभाव ही है कि वह अपने कारणों से जहां कहीं उत्पन्न होता है वहां वह अपने आत्मीय विषय को आकलन करते हुए या अपने शुद्ध प्रकाशमय रूप को लिये हुए ही उपस्थित होता है, तो प्रतिपक्षी भी कह सकता है कि विज्ञान-बाह्य वस्तुएं भी अपने जड़ रूप में उत्पन्न होती और विद्यमान रहती हैं। जैसे विज्ञान का अपना स्वभाव है वैसे ही बाह्य पदार्थों का भी अपना अलग स्वभाव माना जा सकता है। इस पर यह प्रतिवाद करना उपयुक्त नहीं होगा कि बाह्य वस्तु के स्वीकार में तार्किक आपत्तियां हैं, क्योंकि विज्ञान के स्वीकार में भी अनेक आपत्तियां उठायी गयी थीं। इनके निराकरण के लिए यह ऊपर कहा गया है कि विज्ञान का स्वभाव ही विचित्रताओं से भरा हुआ है। यही बात बाह्य वस्तुओं के बारे में कही जा सकती है। इसीलिये ग्रंथकार बौद्ध को समझाते हैं कि उपर्युक्त जैसी बात वह जोर से न बोले, क्योंकि प्रतिपक्षियों के कानों तक वह पहुँचे तो वे भी उसका लाभ उठाने लग जायेंगे।

इस पर बौद्ध पुनः प्रत्युत्तर देता है कि पूर्वज्ञान और उसके विषय इनका अभेद स्थापित करना उसका लक्ष्य नहीं है। उसका सही मन्तव्य यह है कि चूँकि विषय विज्ञान में प्रकाशित या आकलित होता है अतः वह उससे भिन्न नहीं है। अतः अभेद पक्ष पर नैयायिक ने जो दोष लगाये हैं उनका अपने आप निराकरण हो जाता है। किन्तु इस उत्तर से बौद्ध का कोई मतलब नहीं सिद्ध हो सकता। विषय और विज्ञान इनके भेद का निराकरण ही इनके अभेद का साधन है। अतः नैयायिक के आक्षेप बौद्ध को लागू होंगे ही।

नारायण शास्त्री द्राविड़

नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर।

वादविवाद

ज्ञान की सीमाएं

“ज्ञान की सीमाएं” गोष्ठी के प्रथम दो लेखकों ने न तो इस प्रश्न पर विचार किया है कि ज्ञान क्या है और न इस प्रश्न पर कि ज्ञान की सीमाएं, यदि इसका कुछ अर्थ हो सकता है तो, क्या हैं? तृतीय लेखक श्री अजित सिन्हा ने इन प्रश्नों पर विचार किया है, किन्तु हमारे विचार में उनका प्रतिपादन बहुत अयुक्त है।

डा. रमाकान्त त्रिपाठी

प्रथम लेखक डा. रमाकान्त त्रिपाठी ज्ञान संबंधी तीन दृष्टिकोणों की चर्चा करते हैं—मात्रात्मक, प्रकारात्मक और मूल्यात्मक; और यह बताये बिना कि “ज्ञान” से उनका क्या अभिप्राय है, वे निष्कर्ष निकालते हैं कि ज्ञान मूल्यात्मक है, अर्थात् मात्रात्मक और प्रकारात्मक नहीं है। किन्तु वास्तव में वे प्रकारात्मक दृष्टिकोण को भी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार, “प्रत्यक्षवादी चार्वाक को छोड़ कर सभी दार्शनिक ज्ञान के प्रकारात्मक भेद को मानते हैं”। अब, यदि चार्वाकेतर सभी दार्शनिक ज्ञान में प्रकारात्मक भेद को स्वीकार करते हैं तो अनुभववादी भी करते हैं, किन्तु अन्यत्र (पृ. २१०) वे कहते हैं कि मात्रात्मक भेद को मानने वाले (अनुभववादी) ज्ञान के एक ही प्रकार को स्वीकार करते हैं।

अब, यह मूल्यात्मक दृष्टि क्या है? वे कहते हैं “ज्ञान का मूल्य निश्चितता, व्यापकता आदि अनेक दृष्टियों से आंका जा सकता है। परन्तु दर्शन में सर्वाधिक महत्व का मूल्य है सत्य। अतः मूल्यात्मक प्रश्न का अर्थ है सत्य की दृष्टि से मूल्यांकन”। (पृ. २१५) अब सर्वप्रथम, मूल्यांकन किसी वस्तु का स्वरूप निर्दर्शक नहीं होता, स्वरूप का मूल्यांकन हो सकता है। यदि ज्ञान के प्रति मूल्यात्मक दृष्टिकोण उचित है तो इसका अभिप्राय होगा कि ज्ञान का स्वरूप मूल्यात्मक है, और तब यहां “ज्ञान का मूल्य आंकने” का प्रश्न नहीं प्रस्तुत होना चाहिये। दूसरे, ‘निश्चितता’ और ‘सत्य’ दोनों ज्ञान के व्यापारक (फंक्टर्ज) हैं नकि ज्ञान संबंधी मूल्यांकन में दो भिन्न मूल्य। अर्थात्, जो व्यक्ति ज्ञान का दावा करता है वह ज्ञात विषय के सम्बन्ध में निश्चित होता है, और दूसरे, उसका ज्ञान का दावा तभी स्वीकार किया जाता है यदि उसका विश्वास सत्य हो। इस प्रकार, त्रिपाठी जी यहां स्पष्ट नहीं हैं कि वे क्या कहना चाहते हैं। यह अस्पष्टता, अथवा कहे, उनके मस्तिष्क में ज्ञान सम्बन्धी घबरे का होना, उपर्युक्त उद्धरण

❧ दार्शनिक त्रैमासिक, अक्टूबर १९६३। सभी पृष्ठ निर्देश इसी अंक के हैं।

से आगे की पंक्ति में और भी स्पष्ट है, जब वे कहते हैं “दर्शन में सबसे अधिक महत्व का मूल्य है सत्य”, अर्थात् दार्शनिक सन्दर्भ में तो ज्ञान के मूल्यांकन में सत्य सर्वाधिक महत्व का है और किसी अन्य क्षेत्र में ज्ञान संबंधी मूल्यांकन में सत्य का महत्व नहीं रहता, अथवा कम हो जाता है। ‘ज्ञान मूल्यात्मक है’ के तीन अभिप्राय हो सकते हैं—एक तो यह कि (१) ‘ज्ञान’ पद के अर्थ में अन्य अवधारणाओं के साथ साथ मूल्यांकन की अवधारणा भी आवश्यक अंग है, और दूसरा यह कि (२) ‘ज्ञान’ अनेक स्तरों का होता है और ये स्तर मूल्यात्मक निर्धारण के विषय हैं, अथवा (३) प्रत्येक स्तर का ज्ञान उस स्तर के सापेक्ष मूल्य का बोध भी अपने उद्भव के साथ रखता है। संभवतः उनका अभिप्राय (२) से है। किन्तु न तो उनका यह विश्वास उचित है और न वे इस सम्बन्ध में स्पष्ट ही हैं—सत्य को ज्ञान में सर्वाधिक महत्व का मूल्य कहने का एक अभिप्राय यह होगा कि ज्ञान में सत्य के समान ही अन्य भी कुछ तत्व हैं जिनमें सत्य सर्वाधिक उत्कृष्ट है। यह अपने आप में एक विचित्र बात प्रतीत होती है क्योंकि ऐसे कोई तत्व नहीं हैं, और दूसरे, ज्ञान सत्याधारित है। पुनः, इस मूल्य निर्धारण के लिए भी किसी निकष की आवश्यकता है। किन्तु सम्भवतः त्रिपाठी जी का अभिप्राय यह नहीं है, यह उनके मात्रात्मक और प्रकारात्मक दृष्टियों के विश्लेषण से प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे सत्य में ही स्तर-भेद मानते हैं, जैसा कि उनके ज्ञान-प्रकारों के विवेचन से स्पष्ट है। तब इसका अर्थ होगा कि दर्शन का कार्य ज्ञान का मूल्य निश्चित करना नहीं प्रत्युत सत्य का मूल्य निश्चित करना है और उस मूल्य-निश्चय के लिये निकष निश्चित करना है। किन्तु ज्ञान और सत्य का मूल्य निश्चय स्वयं ज्ञान और सत्य के स्वरूप-निश्चय से सर्वथा भिन्न बात है। अब, ज्ञान की सीमाओं का प्रश्न ज्ञान के स्वरूप से सम्बन्ध रखता है, मूल्य से नहीं। जब त्रिपाठी जी विभिन्न प्रमाणों की बात करते हैं तब वे स्वरूप का विश्लेषण करते हैं, मूल्य का नहीं। मूल्यात्मक दृष्टि स्वयं मूल प्रश्न की ही अवहेलना करती है। इस अवहेलना से ही पथभ्रष्ट होकर कुछ दार्शनिक सत्य के, और परिणामतः ज्ञान के, हितकर-अहितकर होने की बात करते हैं; दूसरी ओर कुछ दार्शनिक निकृष्टतर और उत्कृष्टतर सत्य की बात करते हैं। इस घपले के कारण ही त्रिपाठी जी इस प्रसंग में कुछ बड़ी ही विचित्र बातें कहते हैं। उदाहरणतः “कुछ दार्शनिकों ने सत्य और असत्य में केवल मात्रात्मक भेद मानकर ज्ञान को सर्वथा सत्य कहा है”। (पृष्ठ २१०) पुनः, “सत्य की प्राप्ति ज्ञान के विस्तारमात्र से नहीं हो सकती बल्कि मूल्यात्मक विश्लेषण से होती है। (पृष्ठ २११) इन उद्धरणों को देखें। सर्वप्रथम, किस दार्शनिक ने सत्य और असत्य में मात्रा-भेद माना है? सत्य और असत्य में मात्रा या गुण-भेद का प्रश्न ही कैसे उत्पन्न होता है? फिर “सत्य की प्राप्ति ज्ञान के विस्तार मात्र से नहीं होती” कथन से ऐसा प्रतीत होता है जैसे वे सत्य को शब्दशः स्वर्णमय पात्र में ढँका रखा मानते हैं। क्योंकि अन्यथा, उदाहरणतः, भौतिक अथवा जैविक ज्ञान का हमारा विस्तार तत्सम्बन्धी नवीन सत्यों का उद्घाटन करता है, ‘ज्ञान के विस्तार’ का अर्थ ही है नये सत्य की उपलब्धि। स्पष्टतः यहाँ अपेक्षित है कि हमें वे अपनी सत्य की अवधारणा समझाते, किन्तु यह भूल वे नहीं करते। अस्तु, उपर्युक्त दूसरे उद्धरण

में वे मूल्यात्मक विश्लेषण से सत्य की प्राप्ति सम्भव मानते हैं। किन्तु मूल्यात्मक विश्लेषण से हम केवल मूल्यों संबंधी अवधारणाओं का निश्चय कर सकते हैं, सत्य की उपलब्धि नहीं। उनका वाक्य, उनके अभिप्रेत उद्देश्य के अनुसार, इस प्रकार से होना चाहिये: “सत्य की प्राप्ति मूल्यात्मक बोध (अथवा अन्तर्दृष्टि) से ही हो सकती है।” यहां एक और संशोधन आवश्यक है, वह यह कि ‘ज्ञान’ शब्द के साथ ‘सत्य’ या ‘असत्य’ विशेषण का प्रयोग अनुचित है, सत्य ज्ञान की अवधारणा का एक अंग है और सत्य या असत्य वाक्य या धारणाएं होती हैं। यह सब त्रिपाठी इस कारण से हुआ है कि त्रिपाठी जी “ज्ञान” और “सत्य” की अवधारणाओं के सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं हैं।

त्रिपाठी जी मूल्यात्मक ज्ञान के प्रसंग में अर्थापत्ति से उपलब्ध ज्ञान की चर्चा करते हैं। हमें यह समझ नहीं आया कि वे अर्थापत्ति को एक प्रकार का ज्ञान मानकर इसका समावेश प्रकारात्मक दृष्टि में क्यों नहीं करते? इसका सम्बन्ध वे मूल्यात्मक दृष्टि से कैसे जोड़ते हैं? क्या अर्थापत्ति मूल्यात्मक स्तर पर उत्कृष्टतर ज्ञान का साधन है? जहां तक प्रकार का संबंध है, उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि यह किस प्रकार अन्य प्रकार के ज्ञान का साधन है? क्या हम यह इसलिए मान लें क्योंकि त्रिपाठी जी मीमांसा दर्शन को आर्ष मानते हैं और बौद्धों को भ्लेच्छ मानते हैं? अन्यथा ‘मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता’ को उनके तर्क के अनुसार ही उचित रूप से भिन्न प्रकार के ज्ञान की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। यहां यह कह देना भी अनुचित न होगा कि वास्तव में बौद्ध दार्शनिक ज्ञान को दो भिन्न प्रकार का मानते हैं— निर्विकल्पक प्रतिभासात्मक और कल्पनात्मक। उनके अनुसार ये दो ज्ञान-साधन दो आवारतः भिन्न विषयों के ज्ञापक हैं। किन्तु हमारा उद्देश्य यहां सम्प्रदायों का विवेचन नहीं है, हम केवल त्रिपाठी जी की अपनी मान्यताओं (चाहे वे कितनी ही शास्त्रीय क्यों न हों) की आलोचना करना चाहते हैं। अस्तु, अर्थापत्ति के उदाहरण वे कुछ और भी देते हैं, किन्तु ये घपले को कम नहीं करते प्रत्युत बढ़ाते ही हैं। उदाहरणतः “सुषुप्ति में रहने वाले अज्ञान का ज्ञान हमें किसी प्रमावृत्ति से नहीं हो सकता, अतः अन्तःकरण भिन्न कोई चेतना मानना आवश्यक है।” (२१७) यहां हम स्पष्ट नहीं हैं कि “सुषुप्ति में रहने वाले अज्ञान” से उनका क्या तात्पर्य है। मान लें कि मेरे सोते समय मेरे ऊपर कोई कपड़ा डाल दिया गया है, मैं उठने पर पाता हूँ कि नींद में मुझे यह ज्ञान नहीं हुआ। अथवा मुझे कोई स्वप्न होता है, और इसे मैं सत्य मानता हूँ, उठने पर मैं उसे स्वप्न मानता हूँ। अथवा मैं गहरी नींद में हूँ और उठने पर मैं पाता हूँ कि मैं गहरी नींद में था और सोते समय यह मुझे ज्ञात नहीं था। अब प्रथम उदाहरण सम्भवतः उन्हें अभिप्रेत नहीं है, दूसरा उदाहरण यदि उन्हें अभिप्रेत है तो इसके लिए किसी अन्य चेतना की अर्थापत्ति आवश्यक नहीं है, यह स्वप्न विषयक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से एक प्रकार से और अनुभववादी दार्शनिकों के विवेचन से दूसरे प्रकार से देखा जा सकता है (द्रष्टव्यः हमारी पुस्तक दार्शनिक विश्लेषण में मूल वाक्य अध्याय)। तीसरे उदाहरण की व्याख्या यह है कि प्रत्येक ज्ञान-स्थिति में कुछ प्रदत्त होता है, प्रदत्त मेरी अपनी भी कोई वर्तमान या अतीत स्थिति हो सकती है। ‘सुख से सोया’ का भारतीय दार्शनिक

ने बड़ा अनुचित लाभ उठाया है, किन्तु इसके लिये किसी भिन्न चेतना की अर्थापत्ति आवश्यक नहीं है। ज्ञान के लिए कुछ विषय होना आवश्यक है और एक ज्ञाता (उसे चेतना कहलें)। विषय बाह्य वस्तुस्थिति भी हो सकती है और आन्तरिक (मानसिक) वस्तुस्थिति भी। अतः इस प्रकार यहां समस्या यह प्रस्तुत की जाती है कि नींद में जबकि हमारी साधारण चेतना प्रसुप्त रहती है तो स्मृति किस प्रकार सम्भव है? किन्तु यदि चर्चा इसी स्तर पर की जाय तो इसके उत्तर में प्रश्न होगा कि यदि नींद में कोई अन्य चेतना जागृत रहती है तो इस चेतना का ज्ञान उस चेतना में कैसे आता है जो जागृति में होती है? स्पष्टतः ऐसे प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया जा सकता, ये अतीन्द्रिय तत्वों के सम्बन्ध में चर्चाएं हैं। यहां यह द्रष्टव्य है कि नींद में रहने वाली चेतना के लिए 'ज्ञान' शब्द के बजाय 'अवगति' शब्द का प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि ज्ञान के लिये यह आवश्यक है कि ज्ञाता निश्चित हो कि वस्तुस्थिति व है तथा वस्तु-स्थिति व वास्तव में हो भी। 'मैं सुख से सोया' वाक्य ज्ञान का दावा व्यक्त करता है, किन्तु यह यह लागू नहीं करता कि नींद में आवश्यक रूप से मुझे सुख-शयन की अवगति थी। यदि यह अवगति थी तो यह अवगति अन्य अवगति से भिन्न नहीं कही जा सकती। किन्तु यदि तब अवगति थी तो इस कथन का प्रदत्त (डाटा) निद्रा के काल में अनुभूत सुख नहीं है प्रत्युत वह सुख है जो निद्रा के पश्चात् अनुभव हो रहा है। अतः निद्रा के काल में कोई चेतना मुझे नहीं रहती। अतः अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि अर्थापत्ति से हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि 'मैंने शयन काल में सुख का अनुभव किया' नकि यह कि 'शयन काल में कोई अन्य चेतना विद्यमान थी'।

अन्त में त्रिपाठी जी श्रुति के प्रश्न पर आते हैं। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, चाहे उत्तरार्ध के आरम्भ में ही, श्रुति के अपौरुषेयत्व में विश्वास करने वाले सज्जन भी हो सकते हैं यह स्वयं एक दिलचस्प बात है, किन्तु इस कुतूहल को दबाते हुए हम त्रिपाठी जी के एतत्सम्बन्धी तर्कों की परीक्षा करेंगे।

सर्वप्रथम, यह नहीं कहा जा सकता कि किसी प्रकार का ज्ञान श्रुति के बिना असम्भव है, क्योंकि स्वयं श्रुति-कर्त्ता को वह ज्ञान श्रुति से उपलब्ध नहीं हुआ हो सकता। इसलिये श्रुति चाहे पौरुषेय हो या अपौरुषेय वह प्रत्यक्ष को, अर्थात् श्रुति-भिन्न साधन को, पूर्वकल्पित करती है। इसलिये त्रिपाठी जी का यह कथन कि "श्रुति की शरण में जाना आवश्यक है" गलत है। इसका उत्तर शायद वे यह देवें कि "श्रुति देश-काल-व्यक्ति सापेक्ष नहीं है", किन्तु इससे प्रश्न का समाधान नहीं होता, क्योंकि श्रुति का कर्त्ता, चाहे वह ईश्वर ही क्यों न हो, होना आवश्यक है। किन्तु वे आगे यह कहते हैं कि श्रुति से वस्तु-ज्ञान नहीं विधि-ज्ञान होता है। यदि वे यह मानते हैं तो श्रुति-कर्त्ता को सचमुच अनुभव की आवश्यकता नहीं थी, किन्तु तब उसे ज्ञान भी नहीं था। इससे एक और परिणाम निकलता है और वह यह कि श्रुति हमें भी कोई ज्ञान नहीं देती, क्योंकि श्रुति यदि विधि देती है तो वह विधि का ज्ञान नहीं देती। उदाहरणतः, मान लें कि श्रुति में कोई विधि है कि "ऐसा ऐसा करना चाहिये"। अब यह वाक्य, अर्थात् श्रुति, हमें कोई ज्ञान नहीं देता, केवल विधान देता है।

ज्ञान इस प्रसंग में केवल यह है कि “अमुक विधि श्रुति में है”, किन्तु यह ज्ञान श्रुति से प्राप्त नहीं होता। ‘ब्राह्मणो न हन्तव्यः’ यह श्रुति है, यह श्रुति हमें कोई ज्ञान नहीं देती, ज्ञान हमें यह होता कहा जा सकता है कि “यह श्रुति है”, किन्तु यह ज्ञान श्रुति से उपलब्ध नहीं होता। इस प्रकार उन्होंने श्रुति से जिस ज्ञान के प्राप्त होने की बात कही है वह वास्तव में ज्ञान है ही नहीं। श्रुति को अपौरुषेयता तथा निरपेक्षता को स्वीकार करने के पक्ष में उन्होंने कोई तर्क नहीं दिये हैं, और न यह ही बताया है कि यह ज्ञान किस प्रकार से होता है कि श्रुति अपौरुषेय है।

डा. अजित कुमार सिन्हा

अजित सिन्हा ने ज्ञान के स्वरूप पर विचार किया है और उसकी परिभाषा दी है, किन्तु उनके विचार भयानक रूप से अशुद्ध हैं। उनके अनुसार “ज्ञान शक्ति है”। (पृष्ठ २३१) अब ठीक ही कुछ लोगों ने ज्ञान को शक्ति कहा है, किन्तु इससे उनका अभिप्राय यह होता है कि ज्ञान व्यक्ति या समुदाय को अधिक समर्थ बनाता है, न कि यह कि ज्ञान का स्वरूप शक्ति है, अथवा कहें, ‘ज्ञान’ और ‘शक्ति’ शब्द पर्यायवाची हैं। सिन्हा जी ने ज्ञान की परिभाषा शक्ति मानते हुए मेरे एक लेख ‘ज्ञान का विश्लेषण’^१ में प्रस्तुत ‘ज्ञान’ की परिभाषा के स्वर पर ‘राम को ज्ञात है कि उसके हाथ में कलम है’ वाक्य का इस प्रकार से विश्लेषण किया है— ‘या तो यह असत्य है कि राम को ज्ञात है कि राम के हाथ में कलम है अन्यथा राम अपने हाथ को कलम से कलम का व्यापार करा देने में सक्षम है’। (पृष्ठ २३०) किन्तु मान लीजिये कि राम की आयु तीन वर्ष की है और वह कलम लिये बैठा है। कोई उससे पूछता है ‘मेरी कलम कहां है?’ और राम उसका उत्तर देता है ‘यह है’, तो वह स्पष्टतः जानता है कि उसके हाथ में कलम है, किन्तु वह उसका कलम के रूप में उपयोग करने में सक्षम नहीं है। एक अन्य उदाहरण लें—

‘राम को ज्ञात है कि श्याम कलम से कलम का व्यापार कराने में असमर्थ है’। अब यदि इस वाक्य में ‘ज्ञान’ पद का प्रयोग उचित है तो राम यहां किस बात में सक्षम है? इसी प्रकार, मान लीजिये कि राम ३० जनवरी १९४८ को गान्धी जी की प्रार्थना सभा में था और उसके सामने गोडसे ने गान्धी जी की हत्या कर दी। अब वह यह जानता है कि “गोडसे ने गान्धी जी की हत्या की” किन्तु यहां वह किस बात में सक्षम है? पुनः, वह जानता है कि गान्धी जी की हत्या ३० जनवरी को हुई, इस ज्ञान में सक्षमता का क्या प्रसंग है?

सिन्हा जी निम्न वाक्य में ‘ज्ञान’ पद के मेरे प्रयोग पर आपत्ति करते हैं—

‘मुझे ज्ञात है कि श्याम के पिता का नाम मोहन है’।

वे कहते हैं कि उक्त वाक्य में ‘ज्ञान’ के बजाय ‘सूचित’ पद का प्रयोग उचित था। क्यों? ‘सूचित’ और ‘ज्ञात’ में यह अन्तर है कि सूचना, यदि सत्य हो, तो ज्ञान का साधन हो सकती है। ‘सूचित है’ कहने वाला ज्ञान का पूरा दावा नहीं करता, किन्तु ठीक उसी प्रकार जैसे

‘देखा है’ कहने वाला नहीं करता। किन्तु वे दोनों ज्ञान का पूरा दावा कर सकते हैं यदि वे साधन के संबंध में निश्चित हों। और जिस बात का ज्ञान सूचना के आधार पर हो सकता है उसी का अन्य साधनों से भी हो सकता है। उपर्युक्त उदाहरण को लेते हुए, सूचना के बिना भी यह ज्ञान सम्भव है कि राम के पिता का नाम मोहन है। मान लें कि मैं, राम तथा मोहन खड़े हैं और मैं नहीं जानता कि मोहन का राम से क्या सम्बन्ध है। राम उस समय मोहन को ‘पिता जी’ कहता है। उसके पश्चात् कोई अन्य व्यक्ति आता है और मोहन को ‘मोहन’ कह कर पुकारता है। तब कहा जायगा कि मुझे राम के पिता का नाम ज्ञात है। अब सूचना के संबंध में देखें। मान लें कि राम मेरा विश्वस्त मित्र है। वह मुझे सूचना देता है कि “श्याम ने मोहन को पीट दिया”। अब यह सूचना है और मैं सूचित हूँ। किन्तु इस सूचना के आधार पर मुझे ज्ञात है कि श्याम ने मोहन को पीट दिया। सिन्हा जी ‘ज्ञान’ का अभिप्राय संवेद प्रदत्त होना समझते प्रतीत होते हैं। मैंने ‘ज्ञान का विश्लेषण’ लेख में ज्ञान-स्थिति में तीन अंग बताये हैं—विषय, विश्वास और वस्तुस्थिति का विश्वासानुकूल वास्तव में होना। इस पर सिन्हा जी आपत्ति करते हैं कि “इस परिभाषा में ‘वास्तव में ही कलम है’ कैसे पता चलेगा, इस बात को शल्य जी ने स्पष्ट नहीं किया है”। (पृष्ठ २३१) यह आपत्ति एकदम अनुचित है। मैंने “ज्ञान विषय” उपशीर्षक के अन्तर्गत इसका विवेचन पर्याप्त विस्तार से किया है। किन्तु ज्ञान की परिभाषा के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वस्तुस्थिति के स्वरूप का भी विचार हो। अब सिन्हा जी ज्ञान की परिभाषा जिस प्रकार से देते हैं वह द्रष्टव्य है—

“मैं (स्पष्ट कारणों से) निश्चित हूँ कि संवेदनाओं का समूह, जिसे मैं कलम के रूप में स्वीकार करता हूँ, उसे मैं कलम के रूप में प्रयोग कर सकता हूँ।” पृ० २३१ यहाँ उन्होंने ‘स्पष्ट कारणों से’ केवल मेरे प्रयोग की ताल पर ही कह दिया है, अन्यथा संवेदनाओं के समूह को कलम स्वीकार करने का कारण स्पष्ट नहीं है। इसके अतिरिक्त, सिन्हा जी ने संवेदवाद को ठीक नहीं समझा है। ‘संवेदों के समूह का कलम के रूप से प्रयोग’ नहीं हो सकता, अथवा अधिक उचित रूप में, ‘संवेदों का इस या उस रूप में प्रयोग करना’ प्रयोग गलत है, ठीक उसी प्रकार से जैसे ‘चिन्तन खाना खाता है’ अनुचित प्रयोग है। प्रदत्त का एक आवश्यक लक्षण यह है कि यह किसी की ज़मता का सापेक्ष नहीं होता। यदि गुलाब मुझे गुलाबी वर्ण का दिखाई देता है तो यह मेरी ज़मता के बाहर है कि मैं उस प्रदत्त को कुछ और कर दूँ।

ज्ञान को शक्ति बताते हुए वे निम्न उद्गार प्रकट करते हैं: ‘ज्ञान ज्ञाता के मात्र बौद्धिक या मानसिक पक्ष की उपलब्धि नहीं है वरन् यह तो उसके पूरे व्यक्तित्व का परिणाम है।’ (पृ० २३१) अब स्पष्टतः ये उद्गार निराधार हैं, ज्ञान से व्यक्तित्व का इस प्रकार से कोई संबंध नहीं है, फिर विशेषतः सम्पूर्ण व्यक्तित्व का। उदाहरणतः दो व्यक्ति य और र क्रमशः विनीत और दुर्विनीत हो सकते हैं और फिर भी दोनों समान रूप से यह जानते हो सकते हैं कि भारत के वर्तमान प्रधान मंत्री का क्या नाम है?

इन सब से ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्हा जी ज्ञान के सम्बन्ध में बहुत घपले में हैं।

वे संवेदवाद में उलझने हैं, जिसकी प्रेरणा ही विषय की अप्रत्याख्येयता की रक्षा है और इस प्रकार सन्देहवाद के आक्रमण से ज्ञान की रक्षा है, किन्तु वे इस बात को समझते प्रतीत नहीं होते। वे संवेदवाद को भी सत्तमता से घरला देते हैं और इस प्रकार ज्ञान को विषयनिष्ठ से विषयनिष्ठ बना देते हैं। इसी के साथ वे व्यक्तित्व का प्रश्न भा उठा देते हैं जो किसी भी दार्शनिक उद्देश्य को आगे नहीं बढ़ाता।

ज्ञान की सीमाओं के संबन्ध में भी तीनों लेखकों ने बहुत ही अपर्याप्त और असन्तोषजनक ढंग से विचार किया है, और जो थोड़ा कहा है वह भ्रामक है। यहां हम ठीक दिशा की ओर संकेत मात्र करेंगे। अधिक विस्तार में विचार इस आलोचना की मर्यादा से बाहर है।

ज्ञान की सीमा के प्रश्न का अर्थ है कुछ अज्ञेय क्षेत्र को स्वीकार करना। कांट का स्वलक्षण वस्तु का प्रत्यय कुछ ऐसा ही था। सांख्य का प्रधान तथा आत्मा, अनेक दर्शन सम्प्रदायों के ज्ञाता ईश्वर आदि भी अज्ञेय क्षेत्र की वस्तुएं हैं। यहां अज्ञेय का अर्थ है परिभाषया अज्ञेय। कुछ दार्शनिक अज्ञेय का प्रत्यय स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार, अवधारणात्मक रूप से अचिन्त्य ही अज्ञेय कहा जा सकता है, यथा स्वलक्षण वस्तु अवधारणात्मक रूप से अज्ञेय है। अब, जो अचिन्त्य है उसका अस्तित्व किस प्रकार से सोचा जा सकता है? जो चिन्त्य है वह ज्ञेय भी है, क्योंकि उसके सम्बन्ध में हम सोच सकते हैं कि वह किस प्रकार जाना जा सकता है। तब प्रश्न यह है कि जो अचिन्त्य है उसकी चिन्ता हुई कैसे? यह हम स्वलक्षण वस्तु के प्रत्यय से देख सकते हैं। एक प्रकार से चिन्त्य भी अज्ञेय हो सकता है, उदाहरणतः कुछ दार्शनिकों की योजना में अन्य मन चिन्त्य हैं किन्तु अज्ञेय हैं।

इस प्रकार, हमारे विचार में, ज्ञान की सीमा है या नहीं, यह प्रश्न इस बात पर निर्भर करता है कि आप किम अवधारणात्मक योजना को स्वीकार करते हैं। सभी तत्वमीमांसक किसी न किसी अर्थ में ज्ञान की सीमा स्वीकार करते हैं, जबकि अनुभववादी सामान्यतः नहीं करते। इस प्रकार ज्ञान की सीमा का प्रश्न व्यक्ति या समाज की, अथवा वास्तविक या सम्भाव्य सीमा का प्रश्न नहीं है, और न ऐतिहासिक विकास क्रम का प्रश्न है (लेनिन के प्राप्त वचन के बावजूद)। यह प्रश्न अवधारणात्मक योजना के अनुसार स्वीकृत अज्ञेयता का प्रश्न है।

यशदेव शल्य

‘ज्ञान की सीमाएं’ नामक लेख की

आलोचनाओं का उत्तर

आलोचना को पढ़ने से मुझे यह प्रतीत हुआ कि मेरा लेख ध्यानपूर्वक नहीं पढ़ा गया है और उसमें जो प्रधान प्रश्न उठाया गया है, उस पर विचार नहीं किया गया है। शल्य जी जानना चाहते हैं कि ज्ञान से मेरा अभिप्राय क्या है? एक छोटे से लेख में इस विवाद को मैं नहीं उठा सकता था। वे कहते हैं कि मैंने यह स्पष्ट नहीं किया है कि मूल्यात्मक ज्ञान क्या है अथवा ज्ञान मूल्यात्मक कैसे है? परन्तु यदि वे ध्यान से मेरा लेख पढ़ें तो जान पड़ेगा कि घपला मेरे मस्तिष्क में नहीं बल्कि उनके मस्तिष्क में है, क्योंकि मैंने कहीं भी ज्ञान को मूल्यात्मक नहीं कहा है, बल्कि ज्ञान के विषय में रखी जाने वाली दृष्टि को कहा है। अतः ज्ञान मूल्यात्मक कैसे है यह सिद्ध करने का प्रश्न ही नहीं उठता है। हां, मैंने यह अवश्य कहा है कि दर्शन में ज्ञान के प्रति हमारी दृष्टि मूल्यात्मक होती है, क्योंकि दर्शन सत्य की खोज है। यदि ध्यान देकर मेरा लेख पढ़ा गया होता तो मुझसे यह न पूछा जाता कि किस दार्शनिक ने सत्यासत्य में केवल मात्रात्मक भेद माना है, क्योंकि मैंने इसे बता दिया है। मुझसे सत्य की अवधारणा समझाने को कहा गया है, परन्तु ज्ञान की सीमाओं के प्रसंग में यह आवश्यक नहीं है। शल्य जी ने कहा है कि मैंने अर्थापत्ति की चर्चा मूल्यात्मक ज्ञान के प्रसंग में की है। यह सर्वथा गलत है। मैंने अर्थापत्ति की चर्चा ज्ञान की अथवा बौद्धिक ज्ञान की सीमा के प्रसंग में की है। वे पूछते हैं ‘सुषुप्ति में रहने वाले अज्ञान’ से क्या तात्पर्य है? जो कोई वेदान्त जानता होगा उसके लिये यह प्रश्न नहीं उठता। श्रुति की चर्चा करने पर शल्य जी नाक-भों सिकोड़ते हैं और बीसवीं सदी की दोहाई देते हैं। मुझे दर्शन के क्षेत्र में यह फैशन मिज़ाज़ी समझ में नहीं आती। श्रुति के महत्व को समझने के लिए श्रुति के स्वरूप को ठीक से समझना होगा। मैंने समझाने का प्रयत्न किया है परन्तु उधर ध्यान नहीं दिया गया है। शल्य जी का यह कथन कि मेरे अनुसार श्रुति से वस्तु-ज्ञान नहीं विधि-ज्ञान ही होता है, गलत है। मैंने ऐसा कहीं नहीं कहा है (द्रष्टव्य पृष्ठ २२१)। आगे शल्य जी कहते हैं कि श्रुति यदि विधि देती है तो वह विधि का ज्ञान नहीं देती। विधि और विधि के ज्ञान में वे क्या भेद करते हैं, स्पष्ट नहीं है। शल्य जी ने ध्यान नहीं दिया है कि श्रुति की औपेक्ष्यता सिद्ध करने के लिए मैंने कहा है कि श्रुति को सापेक्ष मानने से उसकी अनिवार्यता सिद्ध नहीं हो सकती (पृष्ठ २२०)।

मेरे लेख का केन्द्र बिन्दु यह प्रश्न है: दर्शन की सार्थकता व्यावहारिक सत्य का त्याग कर अव्यवहार्य की खोज में है। ज्ञान की सीमा इस अव्यवहार्य वस्तु द्वारा निर्धारित है।

उसका ज्ञान श्रुति द्वारा ही हो सकता है अन्यथा नहीं। अच्छा होता कि विद्वान् लेखक इन प्रश्नों पर कुछ विचार प्रकट किये होते।

रमाकान्त त्रिपाठी

हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

प्रत्युत्तर

श्री त्रिपाठी जी का उत्तर पाठकों के समक्ष है। उन्होंने अपना उत्तर केवल इस आपत्ति तक सीमित रखा है कि मैंने उनका लेख ध्यान से नहीं पढ़ा है। किन्तु यह ठीक नहीं है। मैंने यह स्पष्ट कहा है कि त्रिपाठी जी ज्ञान के विभिन्न स्तर मानते हैं और इन्हें मूल्यात्मक निर्धारण का विषय मानते हैं, और इसी के आधार पर मैंने उनकी आलोचना की है, यद्यपि यह ठीक है कि मैंने आरंभ में कुछ पंक्तियों में ज्ञान को मूल्यात्मक कहे होने की आलोचना भी की है। त्रिपाठी जी ने इन दो-चार वाक्यों की आड़ लेकर शेष सम्पूर्ण आलोचना की भी अवहेलना कर दी। इसी प्रकार, सत्यासत्य को कौन दार्शनिक मात्रात्मक मानता है, इसका उत्तर भी ठीक नहीं है। उन्होंने अपने लेख में रामानन्द का नाम लिया है, किन्तु अपना लेख वे वहां (पृष्ठ २१०, पैरा ३) ध्यान से पढ़ें, वहां उनका प्रतिपादन भयानकरूप से आपत्तिजनक है; वे कहते हैं “कुछ दार्शनिकों ने सत्य और असत्य में मात्रात्मक भेद मानकर ज्ञान को सर्वदा सत्य कहा है। उनके अनुसार ज्ञान स्वरूपतः सत्य है। जिसे हम असत्य ज्ञान कहते हैं वास्तव में वह अपूर्ण ज्ञान है।” यहां प्रथम वाक्य में कोई अर्थसंगति दिखाई नहीं देती—ज्ञान को सर्वदा सत्य मानने और सत्यासत्य में मात्रात्मक भेद मानने में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। आगे अपूर्णज्ञान (अर्थात् ज्ञान की मात्रात्मकता) के प्रतिपादक के रूप में रामानन्द का नामोल्लेख है, सत्य को मात्रात्मक मानने वाले के रूप में नहीं। ‘ज्ञान’ का अभिप्राय बताने की अपेक्षा का उत्तर वे देते हैं कि “उस छोटे लेख में यह प्रश्न उठाना संभव नहीं था”। किन्तु उनके लेख का मूल प्रश्न ही “ज्ञान” का अभिप्राय बताना है, तभी शेष प्रश्नों का उचित प्रतिपादन हो सकता है। अतः एकाध पृष्ठ इस प्रश्न को देने से कोई हानि न होती। वास्तव में विभिन्न शास्त्रीय चर्चाओं को छोड़ना अधिक लाभप्रद होता। ज्ञान के विवेचन के प्रसंग में सत्य की अवधारणा बताना अवश्य ही आवश्यक नहीं है किन्तु “ज्ञान के मूल्यात्मक विश्लेषण से सत्य की उपलब्धि” मानने वाले के लिये अवश्य ही यह स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है कि सत्य से उनका क्या तात्पर्य है। तात्पर्य दो-चार वाक्यों में भी बताया जा सकता था। इस अपेक्षा की दृष्टि से उनके लेख को पृ. २११-१२ पर देखें।

अर्थापत्ति की चर्चा त्रिपाठी जी ने मूल्यात्मक दृष्टि अधिकरण के अन्तर्गत की है। मेरी आपत्ति इसी सन्दर्भ में है। और फिर, मैंने उनके अर्थापत्ति के विवेचन पर भी आपत्ति किये हैं, किन्तु उनकी उन्होंने उपेक्षा कर दी है। ‘सुषुप्ति में रहने वाले अज्ञान’ सम्बन्धी प्रश्न

मैंने उनसे किए हैं, शंकराचार्य से नहीं। वेदान्त पर विचार आरंभ करेंगे तो विचार-विमर्श का कहीं अन्त नहीं होगा। यदि आप किसी बात को मानते हैं तो उसके लिये उत्तरदायित्व आपको लेना चाहिये। श्रुति की अपौरुषेयता के प्रसंग में बीसवीं सदी की दोहाई फैशन की दृष्टि से नहीं दी गयी प्रत्युत इसलिए कि इतनी शताब्दियों के ज्ञानार्जन के प्रयत्नों का लाभ उठाया होना अपेक्षित है। किन्तु मैंने इस आपत्ति को छोड़ते हुए अन्य तर्क भी प्रस्तुत किये हैं, जिनकी अवहेलना कर दी गयी है। विधि और विधि-ज्ञान में भेद मैंने सोदाहरण समझाया है। पुनः देखें; विधि: “ब्राह्मण का वध नहीं करना चाहिये”। प्रकथन “यह विधि है कि ब्राह्मण का वध नहीं करना चाहिये”। यह त्रिपाठी जी भी स्वीकार करते हैं कि ज्ञान सत्याश्रित है, किन्तु विधि का सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। जहां तक श्रुति से वस्तु-ज्ञान का सम्बन्ध है, उसके लिये मैं यहां केवल अपनी आपत्ति दुहराना चाहता हूँ कि इस प्रसंग में श्रुति मूल स्रोत नहीं हो सकती, श्रुति-कर्त्ता के लिए अनुभव किया होना आवश्यक है।

अव्यावहारिक वस्तु सम्बन्धी प्रश्न मैंने जानबूझ कर छोड़ दिया था, यह प्रश्न सम्पूर्ण प्रणाली के विवेचन की अपेक्षा करता है। मैंने स्वयं इस प्रश्न पर अपनी पुस्तक दार्शनिक विश्लेषण के प्रथम दो निबन्धों में विचार किया है और कुछ “ज्ञान का विश्लेषण” (दार्शनिक अप्रैल १९६३) लेख में भी विचार किया है। तो भी यहां इतना कहना अप्रासंगिक न होगा कि त्रिपाठी जी ने यह तो बताया कि अर्थापत्ति से अव्यावहारिक वस्तु का संकेत मिलता है और श्रुति से ज्ञान, किन्तु यह नहीं बताया कि यह संभव किस प्रकार है, जबकि अव्यावहारिक वस्तु परिभाषया अनिवार्य है। यहां पुनः ज्ञान की अवधारणा का स्पष्टीकरण अपेक्षित है और अव्यवहार्य वस्तु का स्वरूप निरूपण भी।

यह प्रत्युत्तर इस लए आवश्यक हुआ क्योंकि त्रिपाठी जी ने कोई युक्ति न देकर पाठकों का उचित निर्णय का अवसर नहीं दिया है।

यशदेव शल्य

प्रत्यक्ष की वेदान्तीय परिभाषा

श्री नारायण शास्त्री द्राविड़ ने दार्शनिक के जनवरी १९६४ अंक में प्रकाशित अपने लेख “प्रत्यक्ष की वेदान्तीय परिभाषा” में प्रत्यक्ष को वेदान्तीय परिभाषा देने के अतिरिक्त प्रत्यक्ष की तथाकथित वैज्ञानिक परिभाषा की आलोचना भी की है। ठीक तो यह है कि उन्होंने इस तथाकथित वैज्ञानिक परिभाषा की आलोचना करने में अधिक परिश्रम किया है और वेदान्तीय परिभाषा देने में कम प्रयत्न किया है।

(१) प्रत्यक्ष की वैज्ञानिक परिभाषा की आलोचना का प्रसंग द्राविड़ जी ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि “अनेक आधुनिक समीक्षकों की प्रत्यक्ष सम्बन्धी वेदान्तीय स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में यह शिकायत है कि वह बिल्कुल अवैज्ञानिक है।” (पृष्ठ ४७) और वे इसका प्रतिवाद करते हुए कहते हैं कि “वास्तव में वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत परिभाषा ही अवैज्ञानिक है” (पृष्ठ ४८) और इस प्रकार, वेदान्तीय परिभाषा वैज्ञानिक है। किन्तु हमने श्री द्राविड़ के अतिरिक्त कोई ऐसा सज्जन नहीं देखा जो प्रत्यक्ष की किसी दार्शनिक परिभाषा को वैज्ञानिक या अवैज्ञानिक ठहराकर उसकी निन्दा-स्तुति करता हो। प्रत्यक्ष की तथाकथित वैज्ञानिक परिभाषा की कसौटी पर वेदान्तीय परिभाषा ही नहीं, तार्किक प्रत्यक्षवादियों (कार्नेप आदि) की परिभाषा भी अवैज्ञानिक कही जायगी, क्योंकि वे भी अपनी परिभाषा में किरणों और रेटिना में प्रसारित प्रतिक्रिया की चर्चा नहीं करते। किन्तु फिर भी वे वैज्ञानिक अवधारणाओं और सिद्धान्तों (थियरीज़) की परीक्षा और विवेचना करते हैं और उनका प्रत्यक्ष सम्बन्धी मत इसमें आधारभूत होता है। दूसरी बात यह है कि शरीर विज्ञान प्रत्यक्ष की परिभाषा नहीं देता, वह केवल प्रत्यक्ष-स्थिति में विद्यमान एक सम्बन्ध विशेष की एक विशेष सन्दर्भ में व्याख्या करता है। उदाहरणतः ‘यह मेज़ है’ (अथवा, ‘मैं मेज़ देख रहा हूँ’) को लें। यहां कहा जायगा कि मेज़ से लौट कर आयी किरणें रेटिना आदि के सम्पर्क में आकर शरीर में प्रतिक्रिया उत्पन्न करती हैं और अन्ततः संवेद घटित होता है। किन्तु किरणें क्या हैं और शारीरिक प्रतिक्रिया क्या है? इन्हें क्या अर्थ दिया जाय? और इस प्रकार हम पुनः प्रत्यक्ष का आश्रय लेते हैं। इस प्रत्यक्षमुख प्रक्रिया (reversed process) की शब्दावली में किरणें और शारीरिक प्रतिक्रियाएं अभ्युपगम (हाइपोथिसिस) बन जाती हैं। किन्तु जबतक दार्शनिक सन्दर्भ में इस प्रक्रिया का हम प्रतिवर्तन नहीं करते और इस प्रकार प्रत्यक्ष को आधारभूत नहीं बनाते तबतक वैज्ञानिक व्याख्या की उपयोगिता रहती है; दूसरे शब्दों में, वैज्ञानिक सन्दर्भ में वैज्ञानिक व्याख्या का औचित्य अक्षुण्ण रहता है। उदाहरणतः, यदि आंखों के सम्मुख हाथ कर दिया जाय तो सम्मुख दिखाई देने वाला मेज़ नहीं दिखाई देगा, यदि अँगुली से एक आंख को विशेष प्रकार से दबाया जाय तो एक मेज़ के स्थान पर दो दिखाई देने लगेंगे आदि स्थितियों की व्यावहारिक सन्दर्भ में व्याख्या की आवश्यकता है और शरीर विज्ञान तथा भूतविज्ञान इन प्रश्नों का उस सन्दर्भ में

समाधान करते हैं। इस सन्दर्भ से बाहर इनका कोई दावा नहीं है; और अतएव न इनको कसौटी बनाकर किसी दार्शनिक व्याख्या की आलोचना की जा सकती है, और न ज्ञानमीमांसा के आधारभूत प्रश्नों को लेकर वैज्ञानिक की आलोचना ही उचित है। उदाहरणतः यदि कोई वैज्ञानिक से पूछता है, तुम्हें कैसे मालूम कि जब मैं मेज़ देखता हूँ तब मेरी रेटिना आदि में प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है? और उसके यह उत्तर देने पर कि नाड़ियों में होने वाली यह प्रतिक्रिया अमुक अमुक प्रकार से देखी जा सकती है, दार्शनिक का यह कहना कि “किन्तु जो तुम देखोगे वह केवल तुम्हारी रेटिना आदि में उत्पन्न प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप उत्पन्न संवेद हैं”, उचित नहीं है, क्योंकि शरीरवैज्ञानिक सन्दर्भ में यह प्रश्न अनुचित है। और अतएव, जैसा कि हमने कहा, विज्ञान प्रत्यक्ष की परिभाषा नहीं देता, क्योंकि यह प्रत्यक्ष को पूर्वकल्पित कर किरण-प्रसार और रेटिनल प्रतिक्रिया आदि को अभ्युपगम कहता है। मेज़ सम्मुख दिखाई देने में आँख, रेटिना आदि में प्रतिक्रिया का अभ्युपगम आँख बन्द करने या दिखाई न देने आदि के तथ्य से सम्बन्ध रखता है। दिखाई न देने पर कोई व्यक्ति वेदान्ती के पास भीतरी चैतन्य के विकार दूर कराने नहीं जायगा, और न ही यह ही समझेगा कि उपाधियाँ दूर हो जाने से अब वस्तुएं पृथक् दिखाई देना बन्द हो गयी हैं। वह डाक्टर के पास आँख के इलाज के लिए जायगा। यही वैज्ञानिक व्याख्या का औचित्य है। इस प्रकार द्राविड़ जी की वैज्ञानिक की छीछालेदार अनावश्यक और अनाहूत है।

(२) द्राविड़ जो ‘प्रत्यक्ष’ और ‘ज्ञान’ शब्दों का प्रयोग पर्याय के रूप में करते प्रतीत होते हैं, जैसे “प्रत्यक्ष न शारीरिक प्रतिक्रिया है न मानसिक। प्रत्यक्ष-ज्ञान और उसके घटित होने के मूल स्वरूप शरीर के विभिन्न अवयवों में जो क्रियाएं होती हैं उन्हें एकरूप मान लेने का ही यह परिणाम है कि ज्ञान का वर्णन प्रतिक्रिया रूप में वैज्ञानिक लोग निस्संकोच करने लगे हैं।” (पृ. ५२) किन्तु ‘प्रत्यक्ष’ और ‘ज्ञान’ पर्याय नहीं हैं; भ्रम में भी प्रत्यक्ष होता है, यह दर्शन का एक सामान्य विद्यार्थी भी जानता है। इसी प्रकार वे ‘अज्ञान’ शब्द का प्रयोग भी ‘ज्ञानाभाव’ के अर्थ में न करके ‘भ्रम’ के अर्थ में करते प्रतीत होते हैं; उदाहरणतः “रस्सी में साँप का अस्तित्व एक ओर रस्सी और दूसरी ओर द्रष्टा दोनों के अज्ञान के सहयोग का परिणाम है” (पृष्ठ ४६) यहां एक ओर बात द्रष्टव्य है “द्रष्टा” और “रस्सी” में “अज्ञान का सहयोग” कैसे होता है? इसका उत्तर वे देते हैं “केवल अज्ञान से (यहां उनका अभिप्राय है, द्रष्टा की सक्रिय कल्पना से) साँप का आभास नहीं हो सकता। कारण यह है कि अज्ञान आभास को पैदा कर सकता है लेकिन उसको सत्य का स्वरूप दिलाने तथा बनाये रखने के लिए सत्य के अधिष्ठान की आवश्यकता होगी।” (पृष्ठ ४६) यहां उनका कथ्य स्पष्ट नहीं है। भ्रम-सर्प दो तरह के दिखायी दे सकता है—रस्सी रहने पर और रस्सी न रहने पर, जैसे स्वप्न या मतिभ्रम में। दोनों अवस्थाओं में उसे “सत्य का स्वरूप” समान रूप से उपलब्ध होता है अथवा नहीं होता है। इस प्रकार “अज्ञान का सहयोग” अनावश्यक है। फिर “अज्ञान के सहयोग” का अर्थ उनकी अवधारणा के अनुसार यह भी होना चाहिये कि भ्रम-सर्प केवल कर्त्ता की कल्पना (जिसमें उसका मानसिक सृजन-प्रयत्न होता है) के

कारण ही दिखाई नहीं देता प्रत्युत रस्सी का प्रदर्शन-प्रयत्न भी उसमें निहित रहता है, क्योंकि जैसाकि हम आगे देखेंगे, ये द्रष्टा और विषय दोनों को चैतन्य कहकर उनके परस्पर आकृष्ट करने की कल्पना भी प्रस्तुत करते हैं। किन्तु जैसाकि हमने कहा, अधिष्ठान के बिना भी सर्व दिखायी दे सकता है, वहां पता नहीं कौन सा बाह्य चैतन्य आकृष्ट होता है। जहां तक प्रत्यक्ष को “बनाये रखने” का सम्बन्ध है, प्रत्यक्ष ‘बना’ नहीं रहता क्योंकि तब उसमें “नावीन्य” नहीं रहेगा, जोकि वेदान्त प्रत्यक्ष के लिये आवश्यक मानता है। अतः प्रत्यक्ष को ‘क्षणिक’ मानना आवश्यक है, क्षण का जो भी स्वरूप आप स्वीकार करें।

(३) पृष्ठ ५०-५२ पर द्राविड़ जी ने प्रत्यक्ष की शरीरवैज्ञानिक-मनोवैज्ञानिक व्याख्या पर कुछ आपत्तियां की हैं। ये आपत्तियां मुख्यतः द्रष्टा की एकाग्रता और संस्कारों से सम्बन्धित हैं। किन्तु मैं नहीं जानता कि कौन ऐसा शरीरवैज्ञानिक है जो एकाग्रता और संस्कारों के महत्व को स्वीकार नहीं करता और इनका अपनी व्याख्या में समावेश नहीं करता? किन्तु द्राविड़ जी इनका समावेश अपनी व्याख्या में नहीं कर सकते। मेज़ सम्मुख रहने पर भी जब ध्यान उस ओर न रहने पर प्रत्यक्ष घटित नहीं होता तो इसका स्वयं प्रत्यक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रत्यक्ष का प्रश्न उसके घटित होने पर आरंभ होता है। और जबकि नावीन्य प्रत्यक्ष का अनिवार्य लक्षण है तो संस्कार भी उसके क्षेत्र से बाहर की वस्तु हैं, क्योंकि संस्कार प्रत्यक्ष समाप्त होने पर विकल्प की स्थिति में उत्पन्न होते हैं। बौद्ध दार्शनिकों ने इस विषय पर पर्याप्त विस्तार से विचार किया है और इसका स्पष्टीकरण किया है। पश्चिम में भी डेकार्टे से लेकर यह चर्चा बहुत विस्तृत रूप से की गयी है।

(४) किन्तु द्राविड़ जी अवधान और संस्कारादि को प्रत्यक्ष के प्रकरण में लाकर और निर्धारित प्रतिक्रिया (नियत प्रतिभास-कंडीशंड रिफ्लेक्स) के सिद्धान्त को भूलकर एक ओर विज्ञान पर दोषारोपण करते हैं और दूसरी ओर इससे वेदान्तीय आत्मा की स्वतंत्रता का प्रतिपादन करते हैं; किस तर्क से, यह वही जानें। वे कहते हैं “वेदान्त आत्मा को पूर्णतया स्वतंत्र मानता है। आत्मा शरीर, मन आदि से छुटकार पा सकती है क्योंकि अन्ततोगत्वा आत्मा के सभी बन्धन उसी के निर्माण किए हुए हैं। विज्ञान को आत्मा का स्वातंत्र्य मान्य न होने के कारण वह उत्तेजक की विशेष परिस्थितियों में असमर्थता का सन्तोष-दायक स्पष्टीकरण नहीं दे सकता। दृश्य वस्तु आन्तरिक विज्ञान का बाह्य रूप है....” आदि। (पृ. ५१) अब, “आत्मा का स्वतंत्र हो सकना” प्रत्यक्ष की स्थिति की कैसे व्याख्या करता है? जबतक आत्मा स्वतन्त्र नहीं है तबतक क्या वह प्रत्यक्ष नहीं करता? आत्मा की स्वतन्त्रता का “प्रत्यक्ष में उसके सहयोग देने” से क्या सम्बन्ध है? जब द्रष्टा का ध्यान “सम्मुख प्रस्तुत” वस्तु में नहीं रहता तब क्या वैसा आत्मा के परतंत्र रहने के कारण रहता है? पुनः “यदि दृश्य वस्तु आन्तरिक विज्ञान का ही बाह्य रूप है” तो (१) व्यवधान आने पर दिखाई न देने, (२) अवधान होने या न होने, (३) द्रष्टा के संस्कार तथा (४) विषय स्थित चैतन्य के आकृष्ट होने का क्या तात्पर्य है? (यहां आध्यात्मिक भ्रम और ज्ञान की अवधारणा अपेक्षित नहीं है प्रत्युत रस्सी और माँप की, और पुनः स्पष्ट-प्रत्यक्ष और जाग्रत-प्रत्यक्ष में

अन्तर की व्याख्या अपेक्षित है।

(५) इसके पश्चात् वे प्रत्यक्ष की वेदान्तीय परिभाषा देते हैं— “हरेक प्रत्यक्ष ज्ञान ब्रह्म साक्षात्कार की या विश्वव्यापी चैतन्य सत्ता की एक द्वाणिक प्रतीति है जो क्षणमात्र स्थायी होने से, या उपाधियों से पूर्णतया उन्मुक्त न होने से ही ब्रह्मानुभूति जैसी नहीं प्रतीत होती। फिर भी प्रत्यक्ष में क्षणेक नावीन्य, चमत्कार और आनन्द का जो अनुभव होता है उसे ब्रह्म-अनुभूति का ही लक्षण कहना उपयुक्त होगा (यहां यह ध्यान रखना आवश्यक है कि नावीन्य रहित ज्ञान को वेदान्ती प्रत्यक्षरूप नहीं मानते)।” (पृ. ५५) इस प्रकार, उनके अनुसार, प्रत्यक्ष और ब्रह्मानुभव में अन्तर केवल यह है कि प्रत्यक्ष द्वाणिक होता है और ब्रह्मानुभव शाश्वत। किन्तु प्रत्यक्ष में रहने वाले विषय-विषयी भेद के बारे में उनका क्या कहना है, (यह भेद वे मानते हैं यह उनकी भ्रम और अज्ञान आदि की चर्चा से स्पष्ट है) क्योंकि ब्रह्मानुभव में यह भेद नहीं रहता। फिर प्रत्यक्ष में आनन्दादि अनुभव का सहचार भी, उसकी द्वाणिकता के कारण, नहीं हो सकता (किन्तु यह आपत्ति छोड़ी जा सकती है)। वास्तव में वेदान्त का नावीन्य को प्रत्यक्ष का आवश्यक लक्षण मानना यह बताता है कि वह प्रत्यक्ष में विषय की स्वतंत्र सत्ता मानने को बाध्य है। विषय के नावीन्य का एक अर्थ यह है विषय की वैसी प्रतीति, जैसी प्रत्यक्ष में होती है, द्रष्टा के किसी विचार, इच्छा आदि से निर्धारित नहीं है और न वह विषयी के किसी प्रकार से आधीन है। किन्तु विश्वव्यापी सत्ता के लिये कुछ भी विषय नहीं हो सकता, अतः कोई प्रत्यक्ष भी उसे नहीं हो सकता। इस प्रकार, यह स्पष्ट नहीं है कि द्राविड़ जी द्वारा प्रस्तुत प्रत्यक्ष की वेदान्तीय परिभाषा की उपयोगिता किस प्रकार से अधिक है। वे इसका एक कारण देते हैं, उनके अनुसार “घड़े की हर रूप में अपने को अभिव्यक्त करने की शक्ति.....के पीछे है चैतन्य, जो उतनी ही मात्रा में घड़े में विद्यमान है जितना उसके द्रष्टा में या उसके ज्ञान में।द्रष्टा अपने स्थान में और दृश्य अपने स्थान में एक दूसरे से अलग-अलग होकर पड़े रहें तो प्रत्यक्ष ज्ञान कदापि घटित नहीं हो सकता। दृश्य वस्तु में का चैतन्यांश द्रष्टा को अपनी ओर आकृष्ट करता है और द्रष्टा में का चैतन्यांश उसकी ओर उन्मुख होता है।” (पृ. ५४) अब, यहां यह समझ नहीं आया कि यदि विषय-विषयी की तात्त्विक एकरूपता प्रत्यक्ष के लिये आवश्यक है तो वह तत्त्व चैतन्यात्मक होने से क्या प्रयोजन सँवरता है, उसे भौतिक मानने से क्या हानि होती है? यदि आपत्ति यह हो कि संवेद को भौतिक कहना अनुचित है क्योंकि उसका स्वरूप भौतिक की अवधारणा में सम्यक्तया निरूपित नहीं हो सकता, तो बाह्य विषय, जैसे घट, स्पष्टतः भौतिकता की अवधारणा के अन्तर्गत निरूप्य हैं और वे चैतन्य की अवधारणा के अन्तर्गत निरूप्य नहीं हैं। वास्तव में, संवेद भी चैतन्य गुण प्रदर्शित नहीं करता, किन्तु यह चर्चा यहां अवान्तर है। इस प्रकार द्राविड़ जी की उपर्युक्त व्याख्या कोई दार्शनिक प्रयोजन सिद्ध नहीं करती। दूसरी कठिनाई यह है कि क्या घटे चैतन्य और दृष्टि चैतन्य भिन्न-भिन्न हैं? नहीं, तो “आकृष्ट करने” का क्या अभिप्राय है? “आकृष्ट करने तथा होने” और “आन्तरिक विज्ञान के बाहर प्रतीत होने” में क्या संगति है? चैतन्य के अवधारणात्मक सन्दर्भ में “आन्तरिक” और “बाह्य” की सार्थकता

किस प्रकार संभव है, विशेषतः जब चैतन्य सर्वव्यापक तत्त्व है ? भ्रम में (रस्सी में सर्प के भ्रम तथा मतिभ्रम की आधार-रहित भ्रम-प्रतीति) में आन्तरिक चैतन्य और बाह्य चैतन्य में क्या सम्बन्ध होता है ? पुनः, यदि दोनों में "समान मात्रा में चैतन्य" विद्यमान है तो द्रष्टा और विषय में अन्तर का क्या आधार है ? उन्मुखता ? उन्मुखता "का विश्वव्यापी चैतन्य" की पदावली में क्या लक्षण है ? क्या घट को प्रत्यक्ष हो सकता है ? क्यों नहीं हो सकता ?

(६) इन सब प्रश्नों के उत्तर वेदान्त और द्राविड़ जी क्या देंगे यह सब जानते हैं, किन्तु कठिनाई यह है कि ये उत्तर न केवल अवधारणात्मक तर्क तक रह कर नहीं दिये जा सकते प्रत्युत तत्त्वमीमांसात्मक अतीन्द्रिय के स्तर तक जाकर भी नहीं दिये जा सकते, इसके लिए 'अन्तःकरण के उल्लसित होकर विषय की दिशा में प्रसृत होने', 'प्रमाता की व्यापक और आत्म-लीन चेतना के विषय के साथ सम्पर्क स्थापित करने' (पृष्ठ ५६) जैसी पौराणिक कल्पनाएं करनी आवश्यक हैं। दार्शनिक विवेचन में उचित यह है कि हम सन्दर्भ का ध्यान रखें और उसमें समाहित अवधारणाओं का स्पष्टीकरण करें। "प्रत्यक्ष" इसका सुन्दर उदाहरण है, इसकी व्याख्या के लिये आवश्यक यह है कि हम पहले यह स्पष्ट करें कि प्रत्यक्ष-स्थिति क्या है, और फिर इस स्थिति में क्या निहित है, नकि सब प्रकार के चैतन्य, ब्रह्म और माया आदि के भ्रमेले में पड़ें।

अन्त में यह कह देना भी आवश्यक है कि हमारी आलोचना का उद्देश्य वेदान्तीय परिभाषा से कोई संबंध नहीं रखता, हमारा उद्देश्य केवल द्राविड़ जी के प्रतिपादन की आलोचना करना है।

यशदेव शल्य

उत्तर

मेरे उपरोक्त शीर्षक के लेख पर श्री यशदेव शल्य ने कुछ आपत्तियां उपस्थित की हैं। इनके संक्षिप्त समाधान यथा क्रम नीचे दिये जाते हैं:—

(१) मैंने लेख में वैज्ञानिक परिभाषा की आलोचना पर अधिक लिखा है और वेदान्तीय परिभाषा पर कम यह शल्य जी का कथन सही है। ऐसा करने का कारण मेरा यह विचार था कि वेदान्त की परिभाषा से अधिकांश भारतीय विचारक परिचित होंगे। लेकिन जिस प्रकार के आक्षेप मेरे लेख पर उठाये गये हैं उनपर से उक्त विचार गलत सबित हुआ यह मैं सखेद स्वीकार करता हूँ।

(२) श्री शल्य जी का यह कथन कि 'हमने श्री द्राविड के अतिरिक्त कोई ऐसा सज्जन नहीं देखा जो प्रत्यक्ष की किसी दार्शनिक परिभाषा को वैज्ञानिक या अवैज्ञानिक ठहराकर उसकी निन्दा-स्तुति करता हो' बड़ा ही विस्मयकारक है। इस कथन के प्रतिवाद के तौर पर दार्शनिक अप्रैल '६३ के पृ. ६५ पर छपी हुई श्री देवराज जी की निम्न पंक्तियां उद्धृत कर देना ही पर्याप्त होगा। पंक्तियां ये हैं:—

“उत्तर वेदान्त में प्रतिपक्षी का खण्डन करने के लिये.....कल्पनाओं की भरमार है।अन्तःकरण वृत्ति के बाह्य जाने की.....कल्पनायें ऐसी ही चीजें हैं।आज के शरीर विज्ञान एवं दर्शन-क्रिया विज्ञान के प्रकाश में वृत्तियों के बहिर्गमन की कल्पना एकदम ही हास्यास्पद बन गयी है।”

(३) मालूम पड़ता है कि यहां शल्य जी कहना कुछ चाहते हैं किन्तु कुछ और ही कह गये हैं। उनका मन्तव्य है कि दार्शनिक परिभाषा दार्शनिक और वैज्ञानिक परिभाषा वैज्ञानिक सन्दर्भ में प्रयुक्त होनी चाहिये। इस फर्क की उपयुक्तता के लिये उनका यह तर्क कि “वस्तु पर से लौटने वाली किरणें क्या हैं, शारीरिक प्रतिक्रिया क्या है? जैसे प्रश्न दार्शनिक वैज्ञानिक से पूछने लगे तो वह प्रत्यक्ष की परिभाषा बनाने की दिशा में अग्रसर ही नहीं हो सकता,” इस पर हमारा कथन यह है कि उक्त तर्क से शल्य जी जो चाहते हैं उसके ठीक प्रतिकूल बात ही साबित होती है। वह यह है कि प्रत्यक्ष की परिभाषा चाहे वैज्ञानिक दे या दार्शनिक उन दोनों को प्रत्यक्ष नाम की कोई चीज़ है, यह मानकर ही चलना होगा, भले ही प्रत्यक्ष प्रक्रिया के या प्रत्यक्ष के स्वरूप के विश्लेषण के सम्बन्ध में उनमें मतभेद हो। सामान्यतः वैज्ञानिक प्रत्यक्ष के नाम पर उसके कारणों की खोज करता रहता है जबकि दार्शनिक—कम से कम वेदान्ती—प्रत्यक्ष के स्वरूप को समझने की चेष्टा करता है। प्रत्यक्ष के कारणों के बारे में भी दार्शनिकों के कुछ अपने विचार हैं। अतः किसी भी हालत में सन्दर्भ भेद की बिना पर वैज्ञानिक या दार्शनिक परिभाषा को स्वयंपूर्ण नहीं माना जा सकता। विभिन्नतया परिभाषित वस्तु एक नहीं हो सकती। या तो उसके विभिन्न पहलू या विभिन्न घटक या विभिन्न कारण ही विभिन्न परिभाषाओं के अलग अलग विषय हो सकते हैं। इस स्पष्टीकरण को ध्यान में

रखते हुए शल्य जी का यह कथन कि 'विज्ञान प्रत्यक्ष की परिभाषा नहीं देता क्योंकि यह प्रत्यक्ष को पूर्वकल्पित कर किरण प्रसार.....आदि को अभ्युपगम कहता है' कितना असंगत है, यह समझाने की जरूरत नहीं होगी। वैज्ञानिक और दार्शनिक दोनों के लिए प्रत्यक्ष का घटित होना यही एक पूर्वकल्पित बात है। वैज्ञानिक किरण-प्रसार आदि अभ्युपगमों के आधार पर उसका स्पष्टीकरण इसीलिए देता है कि वह शारीरिक प्रक्रिया से परे प्रत्यक्ष का अस्तित्व नहीं मानता। दार्शनिक इन अभ्युपगमों को त्याज्य नहीं कहता, वह तो केवल इन्हें अपर्याप्त समझता है, क्योंकि उसके विचार में प्रत्यक्षानुभव शरीर-प्रक्रिया से परे कोई बात है। यही मैंने अपनी समीक्षा में दिखलाया है।

(४) मेरे एक वाक्य को उद्धृत कर शल्य जी ने मुझ पर 'ज्ञान और प्रत्यक्ष को एक मानने का आरोप किया है। समझ में नहीं आता कि कैसे मेरे वाक्य से यह अर्थ शल्य जी निकाल पाये। 'ज्ञान का वर्णन वैज्ञानिक लोग प्रतिक्रिया के रूप में.....करने लगे हैं।' यह वाक्यांश ज्ञान मात्र के संबंध में मैंने लिखा है और इसी का पूर्वार्ध प्रत्यक्ष के संबंध में कुछ कथन करता है। हां, अज्ञान शब्द का मैंने विध्यात्मक अर्थ में प्रयोग किया है और यह बात वेदान्त की भूमिका के अनुरूप ही है। हैल्यूसिनेशन में भी अधिष्ठान होता ही है। यदि किसी स्थल, काल विशेष में ही कोई अभ्यास (हैल्यूसिनेशन) घटित होता हो तो वही स्थल, काल उसका अधिष्ठान होगा और यदि सदा-सर्वदा किसी व्यक्ति को किसी बात का अभ्यास होता हो तो वह व्यक्ति या उसका मन ही अभ्यास का अधिष्ठान होगा। अधिष्ठान हमेशा पुरोवर्ती पदार्थ नहीं होता यह बात तो स्वयं शंकर ने भाष्य के प्रारंभ में ही स्पष्ट कर दी है। इस पर से शल्य जी का यह आक्षेप भी समाहित हो जाता है कि 'अधिष्ठान के ही न होने पर द्रष्टा का अज्ञान तथा भ्रम का अधिष्ठान इनमें सहयोग संभव नहीं है'।

(५) प्रत्यक्ष को बनाये रखने के सम्बन्ध में मैंने एक स्थान पर जो उल्लेख किया है उसपर शल्य जी की यह आपत्ति है कि प्रत्यक्ष में यदि नावीन्य हो तो इसे क्षणिक भी होना चाहिये, और तब उसके बनाये रखने की बात बलकुल विसंगत प्रतीत होगी। यह बहुत ही साधारण आपत्ति है। वेदान्त के ग्रंथों में अनायास इसका निराकरण कर दिया गया है। वह यह है कि प्रत्यक्ष थोड़े या अधिक समय बना रह सकता है क्योंकि वह मन की एक वृत्ति है और जब तक वृत्ति बदलती नहीं तब तक ज्ञान वही बना रहता है और उसका नावीन्य भंग नहीं हो पाता। इस पर यह पूछा गया है कि यदि विषय वही है तो ज्ञान में कैसे नावीन्य होगा? इस के उत्तर दो हैं। एक यह कि एक ही दीर्घ काल स्थायी ज्ञान में विभिन्न क्षण समाविष्ट हो कर उसे नवीनता प्रदान करते हैं, जिसका तत्पर्य यह है कि ज्ञान का नावीन्य सर्वथा विषय कृत न होकर उसकी आन्तरिक परिवर्तनशीलता से, जो कि विषय की परिवर्तनशीलता का परिणाम है, निर्धारित है। दूसरा उत्तर यह है कि मनोवृत्ति स्वयं काल बाह्य है (अर्थात् वस्तु का काल और उसका काल एक नहीं होते) अतः वह जितने समय तक (बाह्य काल की दृष्टि से) बनी रहेगी तबतक वह एक और नवीन ही होगी।

(६) मनोवैज्ञानिक व्याख्या संबंधी मेरी कुछ आपत्तियों में द्रष्टा की एकाग्रता तथा संस्कारों के

महत्व की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है, यह मान कर शल्य जी कहते हैं कि मैं इन बातों को अपनी व्याख्या में समाविष्ट नहीं कर सकता। मैंने स्पष्ट रूप से इस संबंध में लिखा है कि द्रष्टा का स्वयं विषय की ओर उन्मुख होना ही उसकी एकाग्रता है। इस संबंध में संस्कारों की जो बात शल्य जी ने चलायी है वह बिल्कुल असंबद्ध है। मैंने 'सेट' की अवधारणा की अनुपयुक्तता स्पष्ट करते हुए जो निष्कर्ष प्रस्तुत किया है वह यही है कि अवधान का स्पष्टीकरण शरीर की किसी स्थिति विशेष के द्वारा नहीं दिया जा सकता। कंडीशण्ड रिफ्लेक्स का संबंध विषय के प्रति शरीर की जो नैसर्गिक प्रतिक्रिया होती है उस से ही हो सकता है। इस प्रतिक्रिया का घटित होना प्रत्यक्ष के लिए आवश्यक नहीं है, यह मेरे विवेचन से अपने आप स्पष्ट हो जाता है।

(७) आत्मा की स्वतन्त्रता प्रस्थापित करना यह लेख का विषय नहीं है। वह यह दिखाना है कि प्रत्यक्ष की उपपत्ति आत्मस्वातन्त्र्य की कल्पना की मदद से अच्छी तरह दी जा सकती है। इस संदर्भ में शल्य जी ने जो अनेक प्रश्न पूछे हैं (जैसे 'व्यवधान आने पर वस्तु क्यों दिखाई नहीं देती?' इत्यादि) उन का बहुत ही सरल उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष या अन्य किसी ज्ञान में आत्मा का स्वातन्त्र्य न पूर्णरूप से अभिव्यक्त होता है न ही वह बिल्कुल अभिभूत रहता है। अंतिम सत्ता के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का ज्ञान न पूर्णतया भ्रम (बंध्यापुत्र के ज्ञान की तरह) होता है, न पूर्णतया सत्। जहां तक उसमें असदाभास विद्यमान है वहां तक विषय-ज्ञान सम्बन्धी नियम उसे लागू होंगे ही। इस ज्ञान में और सामान्य भ्रम में उतना ही फर्क है जितना एक स्वप्न और उसके भीतर घटित होने वाले दूसरे स्वप्न में।

(७) इसके अनंतर शल्य जी ने एक ही जैसे अनेक प्रश्नों की शृंखला ही प्रस्तुत कर दी है। वे पूछते हैं प्रत्यक्ष यदि ब्रह्मानुभव जैसा है तो उस में विषय-विषयी भेद कैसे हो सकता है? इन दोनों के एक दूसरे को आकृष्ट करने की बात कैसे उपयुक्त हो सकती है? ज्ञान को विषय सापेक्ष न माना जाय तो उसमें नवीनता कहां से आयेगी? विषय-विषयी की तात्त्विक एकरूपता ज्ञान के लिये आवश्यक ही हो तो वह भौतिक विषय के स्वरूप की ही क्यों न मानी जाय? इन सब प्रश्नों का संक्षेप में उत्तर इस प्रकार है: प्रत्यक्ष ज्ञान की स्थिति में द्रष्टा और दृश्य को एक दूसरे से अलगाने वाली कुछ उपाधियां ज्ञान के कारण अपसारित हो जाती हैं जिस से द्रष्टा विषय को आत्मसात् कर पाता है। इस हद तक प्रत्यक्ष ब्रह्म ज्ञान जैसा ही है, लेकिन द्रष्टा की अपनी भी कुछ सामान्य उपाधियां (Determinations) होती हैं जिन का पूर्ण अपसारण ब्रह्मात्मैक्य प्रतीति के लिये आवश्यक है। अतः जब तक संपूर्ण उपाधियों का निरसन नहीं हो जाता तब तक विषय ज्ञान के नियम प्रत्यक्ष को लागू होंगे ही, लेकिन केवल उन्हीं की मदद से प्रत्यक्ष का स्पष्टीकरण नहीं दिया जा सकता। अब रही विषय विषयी की भौतिक स्वरूप की एकता की बात। इतनी फूहड़ कल्पना तो शायद ही कोई हो। विषय-विषयी का ऐक्य अनुभवगम्य बात है। ये दोनों जड़ हैं यह मान लेने पर भी ऐक्यानुभूति, जो अजड़ है, उसको किस के पक्ष में रखा जाय? जड़ वस्तु का प्रत्यक्ष में प्रवेश होता हुआ सा दिखलाई जरूर पड़ता है लेकिन यदि वास्तव में विषय जड़ हो तो प्रत्यक्ष में उसके

साथ द्रष्टा का संबंध प्रस्थापित ही नहीं हो सकता । एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न उपाधियों से परिच्छिन्न हो अनेक बन जाती है । प्रत्यक्ष में इन उपाधियों में से कुछ अप्रसृत हो जाती हैं तथा उन से परिच्छिन्न वस्तु की एकरूपता की आंशिक झलक दिखाई पड़ने लगती है । अपनी आलोचना के अंत में शल्य जी जो बात कहते हैं वह पूर्णतः निराधार है । उनके वाक्य ये हैं— इन सब प्रश्नों के उत्तर वेदान्त और द्राविड़ जी क्या देंगे यह सब जानते हैं,इसके लिये अन्तःकरण के उल्लसित होकर विषय की दिशा में प्रसृत होने... जैसी पौराणिक कल्पनायें करनी आवश्यक हैं ।यदि किसी विचार की बारीकियों को समझे बिना उसकी पौराणिक या और कुछ ठहरा दिया जाय तो उस संबंध में चर्चा ही करना बुरा है । वैचारिक प्रामाणिकता का यह तकाजा है कि आक्षेपकर्ता लोग पहले आक्षेप विषय विचारों को अच्छी तरह समझने का प्रयत्न करें । जैसे आक्षेप शल्य जी ने उपस्थित किये हैं उन पर से यह नहीं प्रतीत होता कि उन्होंने वेदान्त की भूमिका को समझने की तकनीक भी चेष्टा की है । वेदान्त के प्रारम्भिक विद्यार्थी के लिये ही ऐसे आक्षेप उपयुक्त समझे जा सकते हैं । हां, मेरे लेख में सब बातें नहीं आयी हैं, न आ सकती हैं । प्रस्तुत प्रतिवाद में भी अनिवार्य रूप से बहुत सी बातें छोड़ देनी पड़ी हैं । एक स्वतन्त्र और सुविरचित लेख में ही इन आक्षेपों की ठीक ठीक चर्चा हो सकती है ।

नारायण शास्त्री द्राविड़

नागपुर विश्वविद्यालय ।

प्रत्युत्तर

द्राविड़ जी ने मेरी आलोचना का उत्तर पर्याप्त विस्तार से दिया है इसलिये विचारशील पाठक स्वयं निर्णय कर सकते हैं, उस विवाद को मैं आगे नहीं बढ़ाना चाहता । किन्तु द्राविड़ जी के वेदान्त पढ़ने के परामर्श के सम्बन्ध में दो शब्द कहना आवश्यक समझता हूँ । यदि द्राविड़ जी ने वेदान्त के दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किया होता, या पुनराख्यान ही किया होता, तो मेरा उन से कोई विवाद नहीं था । कठिनाई यह है कि उन्होंने उसे अपनी आधारभूमि बना कर अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है और इससे भी आगे जाकर विज्ञान को अज्ञानिक कहा है । मैंने उनके लेख को उनकी प्रस्तावना मानकर उनकी आलोचना की है । इसे वे अपनी प्रस्तावना मानते हैं, यह वे स्वीकार करेंगे, तब वे मुझे सारे वेदान्त सम्प्रदाय की चर्चा में क्यों घसीटना चाहते हैं ? मैंने यह तो नहीं कहा है कि उन्होंने वेदान्त की व्याख्या ठीक की है या गलत, मैं ने तो यह कहा है कि उनकी प्रस्तावना, उनके तर्क में अमुक दोष हैं । इसका उत्तर उन्होंने दिया, सो ठीक किया, वह विचारशील पाठक देखेंगे । यहां वेदान्त पढ़ने का परामर्श अपनी दुर्बलता का परिचय देना मात्र है । अन्यथा मेरी आलोचना के अन्तिम वाक्य की उन्होंने यों अवहेलना न की होती ।

यशदेव शल्य

पुस्तक समीक्षा

मनोविज्ञान एवं शिक्षा में सांख्यिकीय विधियाँ— लेखक तथा प्रकाशक—
डा० शान्तिप्रकाश आत्रेय एम. ए., पी.एच. डी., अध्यक्ष दर्शन मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र
विभाग, महारानी लाल कुंआरि डिग्री कालेज, बलरामपुर, पृष्ठ १६२, मूल्य ३-५० ।

आज के विज्ञान-प्रधान युग में ज्ञान की प्रत्येक शाखा वैज्ञानिक ढंग से अपनी विषय-वस्तु का अध्ययन प्रस्तुत करना चाहती है । विज्ञान गणानामूलक है । उसके नियम निश्चित रूप से यह नहीं बतला सकते कि प्रकृति कैसे गतिमान होती है । अधिक से अधिक वे इस बात का विवरण प्रस्तुत कर सकते हैं कि अपनी सीमाओं में वैंधी आज तक उसने किस प्रकार से व्यवहार किया है तथा, उन्हीं परिस्थितियों के उपस्थित होने पर उसके किस प्रकार से व्यवहार करने की संभावना है । इसी संभावना के स्वरूप-निर्धारण के लिये सांख्यिकी की आवश्यकता है । विज्ञान की जो शाखा अपनी विषय-वस्तु के स्वरूप-निर्धारण में निश्चयात्मकता की जितनी कम संभावना रखती है उसके लिए सांख्यिकी की उतनी ही अधिक आवश्यकता है । मनोविज्ञान के घटक भौतिक घटकों की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील होते हैं अतः उनके सम्बन्ध में पूर्व-कथन उतना ही दुष्कर है । इस क्षेत्र में संभावना की मात्रा का ही अधिक महत्व है ।

सांख्यिकीय विधियों पर हिन्दी में विशेषकर शिक्षा एवं मनोविज्ञान को लक्ष्य कर लिखी गई यह एक महत्वपूर्ण पुस्तक है । इसमें तथ्य संकलन, व्यवस्थापन और सारणीयन, केन्द्रीय प्रवृत्ति मापन; विचरणशीलता अथवा विस्तरण; सहसम्बन्ध; बिन्दुरेखीय प्रदर्शन तथा प्रतिचयन आदि का विशेष रूप से विवरण प्रस्तुत किया गया है ।

पुस्तक की भाषा सरल और सुग्राह्य है । विषय का प्रतिपादन इस ढंग से किया गया है कि वह विद्यार्थियों के लिए अनायास सहजगम्य एवं उपयोगी बन गया है, यद्यपि गंभीर पाठक को कहीं कहीं यह चीज़ खल भी सकती है । यथा केन्द्रीय-प्रवृत्ति मापन नामक चौथे अध्याय में औसतमान, मध्यांक मान तथा बहुलांक मान में से प्रत्येक के विवरण के अंत में अध्याय के बीच में ही अभ्यास के लिए प्रश्न भी दे दिए गए हैं ।

सांख्यिकी की अपनी कुछ मान्य परम्पराएँ हैं; यथा सारणीयन में वर्ग अन्तराल ऐसा निर्धारित किया जाए कि श्रेणियों की संख्या कम से कम पाँच तथा अधिक से अधिक पन्द्रह बने, टैलियों को अधिक से अधिक पाँच-पाँच के समूहों में बाँटा जाए (चार को सीधा चिह्नित कर लेने के उपरान्त पाँचवीं से आड़े उसे काट दिया जाए) आदि । लेखक ने इन दोनों में भी कुछ नए प्रयोग करने की कोशिश की है ।

पारिभाषिक शब्दों को लेकर आजकल काफी मनमानी चल रही है । संक्रमण-काल में यह अस्वाभाविक भी नहीं । फिर भी हिन्दी को विभिन्न प्रान्तों में शिक्षा के माध्यम के रूप में ग्रहण किया जा सके इसके लिए यह आवश्यक है कि हम एक मान्य शब्दावली को ग्रहण

करें। केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रकाशित पारिभाषिक शब्द-संग्रह को हम सम्प्रति आदर्श के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। लेखक ने अपनी पुस्तक में अधिकांश में इसी से पारिभाषिक शब्द लिए हैं।

सब मिलाकर पुस्तक मनोविज्ञान एवं शिक्षा के स्नातक, स्नातकोत्तर एवं प्रशिक्षण के विद्यार्थियों के लिए हर तरह से उपयोगी है। इसका अगला संस्करण और भी अधिक सजे-सँवरे रूप में हमारे सामने आएगा, ऐसी आशा है।

अयोध्या प्र० अचल, प्राचार्य

जे० जे० कालेज, गया।

Research Journal of Philosophy & Social Sciences.

An International Bi-annual of Philosophy, Psychology, Sociology & Education. Published in October & April. Each issue contains about 200 pages on a particular subject.

Chief Editor : Dr. Ram Nath Sharma, Meerut College, Meerut, (U. P.) India.

Editorial Board : Gardner Murphy (U. S. A.), R. H. Thousless. (Australia), H. H. Price (U. K.), B. L. Atreya (India) and more than a dozen scholars from different foreign contries.

Board of Representatives: Consists representative scholars from a large number of India and foreign universities.

Vol. I. No. 1. PARA PSYCHOLOGY AND YOGA. Oct. 1963.

Contains nineteen articles including contributions from eminent Indian and foreign scholars.

Vol. I. No. 2. INDIAN PSYCHOLOGY April, 1964.

Contains one and a half dozen articles including contributions from eminent Indian and foreign scholars.

Vol. II. No. 1. HUMAN PERSONALITY Oct. 1964.

Vol. II. No. 2. NATURE OF SELF April 1965.

Annual subscription Rates:—	Rs.	Sh.	Dollars.
	15-00	20	3-50

Life Members: Ten years subscription in advance.

Publishers:— M/s. Kedar Nath Ram Nath, Meerut (U. P.) India

Statement about ownership and other particulars about newspaper (Darshanika) to be published in the first issue every year after last day of February.

FORM IV
(See Rule 8)

- | | |
|---|--|
| 1. Place of Publication | Faridkot |
| 2. Periodicity of its publication | Quarterly |
| 3. Printer's Name | Yash Dev Shalya |
| Nationality | Indian. |
| Address | Secretary,
Akhil Bharatiya Darshan
Parishad, Faridkot |
| 4. Publisher's Name | As Above. |
| Nationality | As Above. |
| Address | As Above. |
| 5. Editor's Name | Yash Dev Shalya. |
| Nationality | Indian. |
| Address | Secretary,
Akhil Bharatiya Darshan
Parishad, Faridkot. |
| 6. Name and address of
individuals who own the
Newspaper and partners
or shareholders holding
more than one percent
of the total capital | The Magazine is owned by
Akhil Bharatiya Darshan
Parishad, Faridkot. |

I, Yash Dev Shalya hereby declare that the particulars given above are true and correct to the best of my knowledge and belief.

Yash Dev Shalya,

परिषद्-प्रकाशन

१. बौद्ध दर्शन तथा उसका विकास — पी. टी. राजू मूल्य १-५०
२. अनुभववाद — सं. यशदेव शल्य मू० ५-५०
३. दार्शनिक विश्लेषण — यशदेव शल्य मू० १२-००
४. समकालीन भारतीय दर्शन — सं. के. सच्चिदानन्द मूर्ति मू० १२-००
५. भारतीय मनोविज्ञान — सं. नारायण शास्त्री द्राविड़ मू० ६-००
६. नृत्य तथा समाजदर्शन — सं. दयाकृष्ण, सीता राम गोयल, यशदेव शल्य मू० ८-००
७. दार्शनिक त्रैमासिक — जनवरी १९५५ में स्थापित, सं. यशदेव शल्य, वा.शु. १०-००

यशदेव शल्य द्वारा अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, फरीदकोट (पंजाब) की ओर से
प्रकाशित तथा गुरु अमृत प्रेस, फरीदकोट में मुद्रित ।